Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन भारतीय वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यबोध

(शान्तिपर्व के विशेष सन्दर्भ में)

लेखक
अतुल कुमार सिनहा, एम० ए०,
यू० जी० सी० रिसर्च फेलो,
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

718

उमा प्रकाशन
२३३, पुराना बैरहना, इलाहाबाद

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

144

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आदरणीय प्रोफेसर बी० एन० पुरी साहब को
सादर

अतुल
२८ दिसम्बर '७१

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

State Museum Library
7148
Lucknow

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन भारतीय वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यबोध

(शान्तिपर्व के विशेष सन्दर्भ में)

संग्रह
लखनऊ

लेखक
अतुल कुमार सिनहा, एम० ए०,
यू० जी० सी० रिसर्च फेलो,
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्राक्कथन
प्रोफेसर जे० एस० नेगी,
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

State Museum Library Lucknow

प्रस्तावना
डॉ० ओम प्रकाश,
रीडर
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

उमा प्रकाशन
२३३, पुराना बैरहना, इलाहाबाद

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उमा प्रकाशन
२३३, पुराना बैरहना, इलाहाबाद

© लेखकाधीन

मूल्य—५०·०० रु० मात्र
सन् १९८१-८२

प्रथम संस्करण

मुद्रक :
श्रीमती सुशीला देवी सक्सेना, एम० ए०
माधो प्रिंटिंग वर्क्स,
बैरहना, इलाहाबाद

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राक्कथन

श्री अतुल कुमार सिनहा की पुस्तक 'प्राचीन भारतीय वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यबोध, को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। श्री सिनहा की प्रथम कृति होते हुए भी यह पुस्तक प्राचीन भारतीय आचारशास्त्र के ऐतिहासिक स्वरूप के एक गम्भीर प्रश्न का विवेचन करती है तथा विषय के परम्परागत स्वरूप की रक्षा करते हुए भी उसे आधुनिक सन्दर्भ प्रदान करती है। पुस्तक में अपनायी गयी अध्ययन-पद्धति इस प्रकार इतिहास और आचार-शास्त्र के अन्तर्सम्बन्धों की परिपक्व जानकारी से अनुप्राणित एक नवीन अध्ययन प्रणाली है। शान्तिपर्व के विशेष सन्दर्भ में वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए भी इन मूल्यों की जड़ों की खोज वैदिक वाङ्मय तक की गयी है जो पुस्तक के नाम के 'प्राचीन भारतीय' अंश को सार्थक बनाती है।

लेखक का दृष्टिकोण वर्णनात्मक न होकर विश्लेषणात्मक तथा गवेषणात्मक रहा है। भाषा की प्राञ्जलता और प्रवाह उसकी शोध-शैली को और भी सशक्त बना देते हैं। पुस्तक के अन्त में दी गयी पुस्तक-सूची तथा विषयानुक्रमणी इतिहास तथा आचारशास्त्र के सीमावर्ती इस विषय के अध्ययन को आगे बढ़ाने में पाठकों के लिए विशेष रूप से सहायक सिद्ध होंगे।

युवा-लेखक ने इस कृति के माध्यम से अपनी आशातीत परिपक्वता का जो परिचय दिया है वह निश्चित रूप से स्तुत्य और सराहनीय है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आशा है, पाठकों की सुरुचिपूर्ण प्रतिक्रिया उसके इस साहसपूर्ण प्रयास का स्वागत करके उसका यथेष्ट उत्साहवर्द्धन करेगी ।

जसवन्त सिंह नेगी,
प्रोफेसर,
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं
पुरातत्त्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

इलाहाबाद
१५–८–८१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन आज एक ऐसे मोड़ से होकर गुजर रहा है जहाँ समाजार्थिक यथार्थ की खोज इतिहास का प्रतिपाद्य विषय बन गयी है। इस यथार्थ को एक ओर यदि मिथक से अलग किया जाता है तो दूसरी ओर उन आदर्शों से जो समाजार्थिक यथार्थ में बद्धमूल सशक्त और शोषणपरक वर्ग के हितों और सुविधाओं के पर्याय हैं। यदि इस पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर ऐतिहासिक यथार्थ का अध्ययन किया जाय तो आदर्शों और मूल्यों की कोई भी चर्चा एक निरर्थक प्रयास या अधिक से अधिक व्यर्थ के बुद्धि-विलास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाती। इतिहासकार का कर्तव्य दलित और शोषित वर्ग का मसीहा बनकर शोषक वर्ग द्वारा उन पर डाली गयी विपत्तियों का वर्णन करना और उनके विपरीत उनके वीरतापूर्ण संघर्ष की कहानी उपस्थित करना मात्र रह जाता है। इतिहास की दिशा और उसकी कहानी का ढाँचा पूर्वनिश्चित हो जाता है केवल देश और काल की अनुरूपता में उसमें तथ्य भरना शेष रह जाता है। इतिहास-लेखन की यह अवधारणा ऐतिहासिक इकाइयों की पहचान समाप्त करके इतिहास को एक ऐसी विश्वव्यापी प्रक्रिया बना देती है जो पूर्व निश्चित है और समाजार्थिक यथार्थ के अपने अनिवार्य अन्तर्द्वन्द्वों से संचालित होती है। इस इतिहास का विषय बनते ही मानवीय क्रिया-कलापों की वैयक्तिकता समाप्त हो जाती है, परम्परागत व्यवस्थायें शोषक वर्ग के स्वार्थ में बदल जाती हैं और मूल्य उत्पादन, वितरण और शोषण की समाजार्थिक प्रक्रियाओं को संचालित करने वाला, वस्तुओं का क्रय-विक्रय और अतिरिक्त मूल्य हो जाता है। मिथक 'फैण्टेसी' बनकर यथार्थ की विद्रूपताओं तथा व्यक्ति की मनोकामनाओं का प्रतिविम्बन करते हैं तो दर्शन दिवालिया होकर लाचारी की अपरिहार्यता का समर्थन करता है और वर्गगत 'आइडियोलोजी' का निर्माण करता है। उन्मुक्त जिज्ञासाओं एवं खोजों की वह व्यापकता और निरन्तरता भी अन्ततः समाप्तप्राय हो जाती है जिसके कारण इतिहास को कभी-कभी अतीत और वर्तमान के बीच चलने वाला अनन्त संवाद कहा जाता है। इतिहास की अपनी स्वतंत्रता नष्ट हो

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जाती है और वह समाजार्थिक यथार्थ के एक दृष्टिकोण विशेष का दुमछल्ला मात्र बनकर रह जाता है।

इस विराट भ्रान्ति का मूल सम्भवतः समाजार्थिक यथार्थ अथवा उसकी किसी विशिष्ट अवधारणा को ऐतिहासिक यथार्थ का स्थानापन्न मान लेने में हैं। हमें समाजार्थिक यथार्थ को ऐतिहासिक यथार्थ से पृथक् करना होगा तभी ऐतिहासिक यथार्थ की स्वतंत्रता स्थापित हो सकेगी और उस परिधि का भी निर्णय हो सकेगा जहाँ समाजार्थिक यथार्थ ऐतिहासिक यथार्थ का स्पर्श करता है और तभी वे सारी आपत्तियाँ भी दूर हो सकेंगी जो समाजार्थिक यथार्थ में ऐतिहासिक यथार्थ को सीमित कर देने से उत्पन्न होती हैं।

यथार्थ शब्द किसी स्थिति की उस प्रत्यक्षता का बोध कराता है जिसका ग्रहण कोरी मान्यताओं पर आधारित न होकर या तो प्रत्यक्ष बोध पर आधारित होता है और या उस बोध पर टिकी हुई अनुभव-मूलक मान्यताओं पर। दूसरे शब्दों में यथार्थ वह है जिसे हम देखते हैं या तो अपने प्रत्यक्ष अनुभव कराने वाले चक्षुओं से या फिर ज्ञान के उन खोजी चक्षुओं से जो कुछ भी मानकर नहीं चलते। कुछ भी पहले से मानकर न चलने वाला दृष्टिकोण वैज्ञानिक दृष्टिकोण है और उससे प्रकट होने वाला यथार्थ वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ यथार्थ है। चरम वस्तुनिष्ठता का यह आग्रह जब तक जड़ वस्तुओं तथा उनकी यान्त्रिक एवं सापेक्ष गतिविधियों तक सीमित रहता है तब तक वैज्ञानिक यथार्थ के वैज्ञानिक विवेचन में कोई विशेष परेशानी नहीं पैदा होती क्योंकि जड़ वस्तुओं और उनकी गतिविधियों का कोई सचेतन और संकल्पनात्मक पहलू नहीं होता और यदि होता भी है तो हम उसे नहीं जान सकते। उनके सम्बन्ध में की जाने वाली खोज की प्रश्नावली अथवा उस खोज को उत्प्रेरित करने वाली जिज्ञासायें हमारी मानसिकता और संकल्पना की देन हैं। हम उनका अध्ययन और विश्लेषण क्यों करते हैं, उनके पीछे हमारा क्या उद्देश्य है और उनसे हम क्या प्राप्त करना चाहते हैं यह सब हम स्वयं निर्धारित करते हैं और हमारे इस कार्य-व्यापार में उन वस्तुओं के अपने निजी उद्देश्य, उनका अपना प्राप्तव्य और उनकी अपनी मानसिकता तथा संकल्पना आड़े नहीं आती क्योंकि उनके संदर्भ में इन चीजों का अस्तित्व ही नहीं है। लेकिन जब हम चेतन और अपनी स्वयं की मानसिकता से युक्त इकाइयों के अध्ययन में इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उपयोग करते हैं और अपनी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निजी मानसिकता और संकल्पनाओं से युक्त यथार्थ को वैज्ञानिक यथार्थ की जड़ता में बदल देते हैं तो वस्तुतः कुछ भी न मानकर चलने के बहाने से हम उस यथार्थ की अपनी मानसिकता और संकल्पनाओं को नकारते हैं और उनके स्थान पर जाने-अनजाने अपनी, स्वयं की, मानसिकता और संकल्पनाओं का आरोपण कर देते हैं। समाजार्थिक यथार्थ की उपर्युक्त अवधारणा अपनी आरोपित वैज्ञानिकता के कारण ही विवेच्य की संरचनात्मक एवं गत्यात्मक जड़ता और विवेचक की अपनी मानसिकता एवं संकल्पनाओं का अपवित्र गठबन्धन है और इसीलिए यह इतनी सारी भ्रान्तियाँ उत्पन्न करती हैं। यही कारण है कि समाजार्थिक यथार्थ के इस विवेचन में विवेच्य की मानसिकता कभी मिथक कहकर टाल दी जाती है तो कभी वर्ग-स्वार्थ और विवेचक की स्वयं अपनी मानसिकता विवेचन-पद्धति के रूप में चोर दरवाजे से घुसा दी जाती है। इस विवेचन को जब इतिहास की सीमाओं में विस्तारित किया जाता है तो इतिहास के सामने कोई दूसरा विकल्प नहीं रह जाता सिवा इसके कि वह चरम वैज्ञानिकता के नाम पर अपनी स्वतन्त्रता का बलिदान कर दे और अपनी सारी शक्ति के साथ इस तथाकथित वैज्ञानिक ढाँचे का वहन करे और विवेचक की अपनी मानसिकता का समर्थन करे। समाजार्थिक यथार्थ की यह अवधारणा इतिहास को साध्य नहीं साधन मानकर चलती है। इसके समक्ष इतिहास एक 'टूल' मात्र बनकर रह जाता है। समाजार्थिक यथार्थ की अवधारणा इस प्रकार इतिहास-विज्ञान की आधिभौतिकी (Metaphysics) बन जाती है और उसके लिए वह उतनी ही त्याज्य है जितनी दार्शनिक आधि-भौतिकी विज्ञान के लिए।

जब इतिहास-विज्ञान की बात की जाती है तो उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि इतिहास विज्ञान हो गया अथवा उसका विवेच्य विज्ञान के विवेच्य की तरह मानसिकताहीन हो गया। उसका तात्पर्य तो केवल अपने विवेच्य की प्रकृति के अनुकूल, उपयुक्त और प्रभावी खोज-पद्धति से है। उसकी वैज्ञानिकता उसके विवेच्य की सापेक्षता में समझी जानी चाहिए न कि जड़ पदार्थों का विवेचन करने वाले विज्ञान के अन्धानुकरण में या उसके विवेच्य की प्रकृति-परिवर्तन में। इतिहास के विवेच्य से मानसिकता का अपहरण उसे विज्ञान के विवेच्य में बदल देता है। अतः ऐतिहासिक यथार्थ स्वयं अपनी मानसिकता से युक्त यथार्थ है और उस मानसिकता को ऐतिहासिक विवेचन के क्षेत्र से

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बाहर नहीं माना जा सकता। उसकी उपेक्षा करके इतिहास वैज्ञानिक इतिहास नहीं बनता बल्कि उसकी वैज्ञानिकता नष्ट होती है। इतिहास की वैज्ञानिकता अपने विवेच्य की मानसिकता का सही विश्लेषण प्रस्तुत करने में है, उसे नकारने में नहीं।

ऐतिहासिक यथार्थ अपने विवेच्य की मानसिकता और उसकी परिस्थिति के अन्तर्द्वन्द्वों का परिणाम होता है। सांस्कृतिक संरचनायें तथा उनके आधारभूत मूल्य इसी अन्तर्द्वन्द्व से उद्भूत होते हैं, परिवर्तन को प्राप्त होते हैं और अन्ततोगत्वा पुराने पड़कर पृष्ठभूमि में चले जाते हैं तथा उनके द्वारा संदर्भित अतीत के गर्भ से नवीन मूल्यों, संरचनाओं और संस्थाओं की सृष्टि होती है। इतिहास का तारतम्य बना रहता है, वर्तमान को संदर्भित करने वाला अतीत स्वयं वर्तमान द्वारा प्रत्याशित होता है जो अतीत बनने के पूर्व भविष्य की पूर्वपीठिका प्रस्तुत करता है। वैयक्तिक एवं सामुदायिक मानसिकता वह सूत्र है जो अतीत को वर्तमान से जोड़कर संस्थाओं, मूल्यों एवं संरचनाओं में नैरन्तर्य उपस्थित करके ऐतिहासिक यथार्थ को काल की गति से ऊपर उठाता है और बीते हुए की भी सार्थकता प्रतिपादित करता है। इतिहास इसी सार्थक अतीत के पुनरुज्जीवन एवं पुनर्गठन का विज्ञान है। समाजार्थिक संरचनायें भी मानसिकता और उसकी परिस्थिति के अन्तर्द्वन्द्वों से ही उत्पन्न होती है अतः वे ऐतिहासिक प्रक्रिया की नियामक नहीं हो सकतीं। इतिहास के विवेच्य की मानसिकता का विनिश्चयन उनके द्वारा नहीं होता बल्कि वे स्वयं ही इस मानसिकता तथा उसकी परिस्थिति के अन्तर्द्वन्द्वों की उपज होती है।

श्री अतुल कुमार सिनहा की प्रस्तुत कृति प्राचीन भारतीय व्यक्ति और समाज को ऐतिहासिक विवेच्य की मानसिकता और तज्जनित मूल्यों के सन्दर्भ में रखकर देखने का प्रथम प्रयास है। शान्तिपर्व के विशेष सन्दर्भ में किया गया उनका यह अध्ययन महाभारत युद्ध जैसी युगान्तकारी घटना की विप्लवपूर्ण परिस्थिति में प्राचीन भारतीय मानसिकता के अन्तर्द्वन्द्वों को अत्यधिक सफाई के साथ उभार सका है।

परम्परागत मूल्यों पर टिकी हुई व्यष्टि और समष्टि की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगा देने वाला महाभारत युद्ध का विनाशकारी अनुभव धर्म, दर्शन, नीति, राजनीति, वैयक्तिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं सभी कुछ पर विचारमंथन तथा मानसिकता एवं मूल्यों के नवीन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय की खोज के लिए विवश करता है। यही वह अशान्ति है जिसका समाधान शान्तिपर्व प्रस्तुत करता है। किन्तु शान्तिपर्व किसी विचारक विशेष के व्यक्तिगत सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं करता। वह तो विरासत में प्राप्त की गयी ऐतिहासिक मानसिकता एवं मूल्यों का एक ऐसा परिस्थिति-सापेक्ष पुनर्विवेचन है जो किसी व्यक्ति-विशेष की प्रतिक्रिया की उपज न होकर एक युग-विशेष की अपने पूर्वगामी युग के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया का परिणाम है। शान्तिपर्व इस प्रकार एक ऐसे युग-विशेष का चिन्तन उपस्थित करता है जो महाभारत युद्ध जैसी विप्लवकारी घटना के कारण पूर्वगामी युगों, और परम्परागत मान्यताओं और मूल्यों से बिछुड़ने के खतरे में पड़ गया था। उनकी पुनर्परिभाषा और उनके साथ फिर से स्थापित किया गया सातत्य प्राचीन भारतीय मानसिकता की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित करके उसके इतिहास में शान्तिपर्व का महत्व रेखांकित करता है। युगान्त के चौराहे पर युगबोध का दर्शन उपस्थित करने के कारण बिखराव, पुरावृत्तात्मकता तथा अपरिभाषित पूर्व-मान्यतायें शान्तिपर्व की विश्लेषण शैली की सहज विशेषताएँ बन गयी हैं किन्तु उनकी दिशा और उनका लक्ष्य सर्वथा निःसंदिग्ध है। यही कारण है कि श्री सिनहा को विचारों एवं मूल्यबोध के स्तर पर शान्तिपर्व के वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यबोध का एक संश्लिष्ट ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करने के लिए कुछ समकालीन पुराणों तथा कतिपय पूर्वगामी ग्रंथों का भी सहारा लेना पड़ा है।

पुरावृत्तात्मक मिथकों और उद्भावनाओं के माध्यम से प्राचीन भारतीय मानसिकता ने वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यों का बोध कराने के उद्देश्य से एक ऐसे प्राथमिक युग का चित्रण किया है जो ऐतिहासिक न होते हुए भी उस मानसिकता की पूर्वमान्यताओं का उद्घाटन करता है। वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों के उद्भव के पूर्व की प्राक्कल्पना उस युग की सीमा से पहले नहीं जाती इसीलिए लेखक ने उसे प्राथमिक चरम की संज्ञा दी है। प्राथमिक चरम की पूर्वमान्यता से वैयक्तिक मूल्यबोध की शोभायात्रा वैयक्तिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा—मोक्ष—तक जाती है। सामाजिकता का आविर्भाव व्यक्ति की भौतिक निर्भरता की अनिवार्य विवशताओं से होता है जिसका सामना वह सामाजिक और आर्थिक समायोजन के बिना नहीं कर सकता। इस समायोजन के मूल्य और उनकी प्राप्तव्यता अस्तित्व-संकट की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विवशताओं से उद्भूत होने के कारण वांछनीय होते हुए भी चरम नहीं हैं। मानव-जीवन की सार्थकता अस्तित्व-संकट से उबरने मात्र में हो भी कैसे सकती है? उस सार्थकता के लिए आवश्यक है वैयक्तिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा की प्राप्तव्यता जो बिना अस्तित्व-रक्षा और उसके लिए प्राप्तव्य सामाजिक एवं आर्थिक मूल्यों के सम्भव नहीं हैं। भौतिक जगत की अनिवार्य विवशता का नकार यदि समाज है तो सामाजिक जीवन का नकार व्यक्ति का परम प्राप्तव्य—मोक्ष। इन दो नकारों से अन्तिम सकार को सम्भव बनाने वाला सामञ्जस्य-पत्र—धर्म परस्पर विरोधी तत्वों को एक दूसरे का अनुपूरक बनाकर उनकी युति का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है जिसकी स्थिरता सामाजिक मूल्यबोध की अक्षुण्णता पर निर्भर करती है क्योंकि वैयक्तिक चरमोत्कर्ष की प्राप्तव्यता नितान्त वैयक्तिक है और वहाँ तक सभी का पहुँच पाना जरूरी भी नहीं है। इस स्थिरता का वास्तविक तात्पर्य इस प्रकार सामाजिक स्थायित्व से ही है और उसके लिए अकेला सामञ्जस्य सिद्धान्त ही पर्याप्त नहीं है इसीलिए समाज के साथ-साथ राज्य भी आवश्यक हो जाता है जिसकी आधारशिला है क्षात्रधर्म जिसे इस कृति में सामाजिक स्थायित्व के साधक के रूप में विवेचित किया गया है।

उपर्युक्त निष्कर्षों से युक्त श्री सिनहा की यह पुस्तक निश्चित रूप से इतिहास लेखन के क्षेत्र में एक नवीन आयाम उपस्थित करती है और मुझे इसका स्वागत करते हुए तथा विद्वज्जनों को इसे समर्पित करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। इस देन के लिए श्री सिनहा बधाई के पात्र हैं।

डॉ० ओमप्रकाश,
रीडर,
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं
पुरातत्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

२०-८-८१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भूमिका

पुस्तक लिखने से शायद ज्यादा कठिन होता है पुस्तक की भूमिका लिखना; क्योंकि भूमिका-लेखन के प्रयास मे लेखक अपने को अपने ही कृतित्व और व्यक्तित्व के समक्ष खड़ा हुआ पाता है। आईने में उभरती अपनी ही तस्वीर का मूल्यांकन करने का साहस कितनों में होता है ? किन्तु तटस्थता की अग्निपरीक्षा से गुजरते हुए भी प्रथा का निर्वाह तो करना ही होता है।

प्रथमतः पुस्तक के शीर्षक का विवेचन : क्योंकि इस शीर्षक में 'वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यबोध' प्राचीन भारत के सन्दर्भ में अनर्गल सा प्रतीत हो सकता है यदि कोई यह सोचे कि प्राचीन भारत में 'व्यक्ति' और 'समाज' जैसी अवधारणायें थीं क्या ? किन्तु प्राचीन भारत में ये अवधारणायें रहीं हों या न रहीं हों हमारी आज की जानकारी के पटल पर ये अवधारणायें इतनी हावी हो चुकी हैं कि जब तक इनके ढाँचे में रखकर चीजों को प्रस्तुत नहीं किया जायगा तब तक सम्प्रेषण के अभाव में भूत ओर वर्तमान के बीच कोई संवाद हो ही नहीं पायेगा। प्रस्तुत पुस्तक प्राचीन भारतीय मूल्यबोध के उन पहलुओं का व्यवस्थित विवरण है जिन्हें इन वर्तमान अवधारणाओं का ऐतिहासिक स्थानापन्न अथवा प्रारूप कहा जा सकता है।

द्वितीयतः शोध-पद्धति का विश्लेषण : इस पुस्तक में अपनायी गयी शोध-पद्धति स्रोतसामग्री का पुनर्गठनात्मक विश्लेषण कही जा सकती है जिसका उद्देश्य स्रोतसामग्री को उसके अपने ही प्रारूप में ज्यों का त्यों उभारना मात्र नहीं है अपितु उसे प्राचीन भारतीय संस्कृति के सामान्य सन्दर्भ में रखते हुए वर्तमान की मानसिकता के प्रदत्त ढाँचे के लिए ग्राह्य भी बनाना है। पुनर्गठनात्मकता भी इस प्रकार दोहरी है : एक ओर अतीत के सांस्कृतिक सन्दर्भों के अनुरूप और दूसरी ओर वर्तमान की ग्रहणशीलता की पूर्वनिर्धारित मानसिकता के अनुरूप। शान्तिपर्व के विशेष सन्दर्भ में किया गया यह अध्ययन इस प्रकार शान्तिपर्व को अपनी विशेष स्रोतसामग्री बनाते हुए भी प्राचीन भारतीय मूल्यबोध के सामान्य रूपाकार की अवहेलना नहीं करता। विसंगतियों की पारिस्थितिकी को प्रस्तुत करते हुए भी संगतियों को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सर्वोपरिता को रेखांकित करती हुई प्रस्तुत कृति मूल्यबोध के सातत्य तथा उसके सन्दर्भ में 'अपनी' सांस्कृतिक पहचान पर बल देती है।

तृतीयत: आभार : सर्वप्रथम मैं अपने शोध-पर्यवेक्षक आदरणीय डॉ० ओमप्रकाश जी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके कुशल निर्देशन के बिना प्रस्तुत कृति के प्रकाश में आने की कोई संभावना ही नहीं थी। इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर उन्होंने मुझ पर जो अनुग्रह किया है उसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

आदरणीय गुरुवर्य प्रोफेसर जसवन्त सिंह नेगी जी ने इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखकर मुझे गौरवान्वित किया है। उनकी इस कृपा के लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

आदरणीय प्रोफेसर गोवर्धन राय शर्मा, प्रोफेसर गोविन्द चन्द पाण्डे तथा प्रोफेसर अम्बादत्त पन्त जी की मुझ पर अत्यन्त कृपा रही है। प्रोफेसर पाण्डे जी तथा प्रोफेसर पन्त जी ने समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझावों तथा सद्सम्मतियों से मुझे अत्यधिक लाभान्वित किया है तथा उनसे अपने विषय को समझने में मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। इन तीनों महानुभावों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

दर्शन विभाग, न्यू मेक्सिको विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ए० एल० बाशम, स्कूल ऑव ओरियन्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज, लंदन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डब्लू० एफ० मेन्स्की, प्रोफेसर दिनेश चन्द्र सरकार, प्रोफेसर वी० वी० मिराशी, प्रोफेसर चन्द्रधर शर्मा, प्रोफेसर कृष्णदत्त बाजपेयी, प्रोफेसर रामशरण शर्मा, प्रोफेसर ए० के० सरन, प्रोफेसर वी पी० सिनहा, प्रोफेसर रोमिला थापर, प्रोफेसर विश्वम्भर शरण पाठक, प्रोफेसर लल्लन जी गोपाल, प्रोफेसर सुवीरा जायसवाल एवं प्रोफेसर ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय ने अपने-अपने पत्रों अथवा साक्षात्कारों के माध्यम से मुझे जो सुझाव दिये उनसे मेरी जानकारी में उल्लेखनीय वृद्धि हुई और मुझे अपने अध्ययन की दिशा निर्धारित करने में अत्यन्त सहायता मिली। इन सभी लोगों ने मेरा उत्साह बढ़ाया और मुझे अपने कार्य में लगे रहने की प्रेरणा प्रदान की। इन सभी आदरणीय महानुभावों का मैं हृदय से आभारी हूँ और उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करता हूँ।

प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मेरे गुरुजन प्रोफेसर बी० एन० एस० यादव, प्रोफेसर उदयनारायण राय, डॉ० एस० एन० राय, डॉ० बी० सी० श्रीवास्तव, डॉ० एस० सी० भट्टाचार्य,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

डॉ० (कु०) सन्ध्या मुकर्जी, श्री आर० के० द्विवेदी, श्री आर० पी० त्रिपाठी एवं श्री जयनारायण पाण्डेय मेरे प्रति अत्यन्त स्नेहशील रहे हैं और उन सभी लोगों से समय-समय पर मैंने सहायता ली है जिसके लिए मैं उन सभी का आभारी हूँ। श्री उमेश चट्टोपाध्याय के साथ समय-समय पर होने वाली बातचीत से मुझे लाभ मिलता रहा है। उसके लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद के मेरे गुरुजन श्री ओ० पी० श्रीवास्तव, श्री के० सी० श्रीवास्तव एवं डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव मेरे प्रति काफी सहृदय रहे हैं और समय-समय पर मैंने उनकी सहायता का लाभ भी उठाया है। इसके लिए मैं उन सभी का कृतज्ञ हूँ और उनके प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। श्री ओ० पी० श्रीवास्तव एवं इलाहाबाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद के श्री गंगासागर तिवारी के साथ मजेदार बातचीत से मुझे अपने निष्कर्षों तक पहुँचने में सहायता मिली है। इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

श्री बी० एन० राय, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जे० एन० पी० जी० कालेज, बाँदा, श्री गिरीश चन्द्र पाण्डेय, अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, जी० एस० एस० कालेज, आजमगढ़, श्री एच० एन० दुबे, श्री राजेन्द्र सिंह राज, श्री रणजीत सिंह राणा, श्री बिमल चन्द्र शुक्ल तथा श्री आदित्य प्रसाद ओझा से सदैव मैंने बड़े भाइयों सा स्नेह पाया है। कु० कुलदीप दत्ता का स्नेह भी मुझे बराबर मिलता रहा है। इसके लिए मैं इन सभी लोगों का आभारी हूँ।

श्री हरि सहाय सिंह ने छोटे भाई का कर्तव्य निभाते हुए पुस्तक-लेखन से पुस्तक-प्रकाशन तक की अवधि में मेरी जितनी अधिक सहायता की है उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि इस पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय मुझसे ज्यादा उन्हीं को है।

इस कृति के प्रणयन में प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की रिसर्च लाइब्रेरी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद की लाइब्रेरी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, तथा गोयनका घाट, वाराणसी की लाइब्रेरी की भूमिका प्रमुख रही है। इन सभी लाइब्रेरियों के अधिकारियों और कर्मचारियों ने मुझे जो सहयोग दिया है उसके लिए वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मैं अपने माता-पिता, सभी भाइयों और भाभियों का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने घरेलू कार्यों और चिन्ताओं से यथासंभव मुक्ति देकर मुझे अध्ययन का अवसर प्रदान किया। मौसी और मौसा जी का विशेष स्नेह मुझे बचपन से ही प्राप्त होता रहा है और मौसी तो मेरे लिए प्रेरणा का एक स्रोत रही हैं। बेबी से इधर की बातचीत में मुझे विषय से सम्बन्धित कुछ समस्याओं को हल करने में सहायता मिली है। दीदी के प्यार और आशीर्वाद ने मुझे अक्सर बल प्रदान किया है। बब्बू और मोइत्री की दोस्ती से मेरी समझ का दायरा बढ़ा है। उन लोगों के प्यार, स्नेह और सहयोग के बल पर ही आज मैं उन्हीं के प्रति आभार प्रकट कर सकने योग्य हुआ हूँ।

छोटू और पप्पू न समय-समय पर मुझे टाइपिंग की सुविधा प्रदान की जिसके लिए उन्हें धन्यवाद देना मैं अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ। मैं अपने सभी सम्बन्धियों, मित्रों एवं शुभाकांक्षियों का आभारी हूँ जिनके आशीर्वाद और शुभकामनाओं ने मुझे इस कार्य को पूरा कर सकने की शक्ति दी है।

माधो प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद के अधिकारी एवं कर्मचारीगण भी मेरी साधुवाद के पात्र हैं क्योंकि उन्होंने व्यक्तिगत तौर पर रुचि लेकर मेरे इस प्रयास को सफल बनाया है।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती शोभना सिनहा ने घोर निराशा और मानसिक तनाव के क्षणों में जिस प्रकार मेरा उत्साह बढ़ाया, कठिन से कठिन समय में मुझे उनका जो सहयोग मिला है उसका बदला दुनिया की किसी भाषा के 'धन्यवाद' से नहीं चुकाया जा सकता। उनके प्रति इस औपचारिकता का निर्वाह वैसे अनावश्यक भी है क्योंकि वे मेरी 'सहधर्मिणी' हैं और उनके प्रति किसी भी तरह की कृतज्ञता व्यक्त करना स्वयं अपने प्रति कृतज्ञ होने जैसा है।

विषय दुरूह है और उसमें हस्तक्षेप का प्रयास एक दुस्साहस है फिर भी रोमांचकता का अपना एक आनन्द तो होता ही है इसीलिए अपनी अक्षमता को जानते हुए भी यह प्रयास किया है जिसकी सफलता-असफलता का मूल्यांकन तो सुधी पाठक ही करेंगे। मैं तो बस कालिदास के सुर में सुर ही मिला सकता हूँ—

'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥'

रघुवंश (१.२)

कृष्ण जन्माष्टमी, इलाहाबाद
(२२-८-१९८१)

अ० कु० सि०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनुक्रम

प्राक्कथन

प्रस्तावना

भूमिका

१. प्राथमिक चरम की पूर्वमान्यता : प्राकृतयुग १–१८

२. वर्ण-व्यवस्था का उद्भव और सैद्धान्तिक स्वरूप १९–४४

३. सामाजिक स्थायित्व का साधक : क्षात्रधर्म ४५–७०

४. वैयक्तिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा और उसकी प्राप्यता ७१–१०३

५. वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का सामञ्जस्य-सूत्र—'धर्म' १०४–१२७

सहायक ग्रन्थ सूची

विषयानुक्रमणिका

———

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अलका, मलका, निशि, जूहा, जूलो
और
गोपाल जी को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राथमिक चरम की पूर्वमान्यता : प्राकृतयुग

राज्य और समाज किसी भी मानव-समुदाय की अनिवार्य संस्थायें हैं। यहाँ तक कि कबीली अवस्थाओं में भी, हाल की शोधों से, किसी न किसी रूप में इन संस्थाओं के अस्तित्व का पता चलता है।[1] किन्तु मानव-सभ्यता के इतिहास पर यदि एक विहंगम दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होता है कि विश्व की प्रायः सभी संस्कृतियों में इन संस्थाओं को मानव-सभ्यता के क्रमिक विकास के परिणाम के रूप में स्वीकार किया गया है।[2] प्रायः प्रत्येक संस्कृति में इन संस्थाओं के उदय के पूर्व मानव-अस्तित्व की प्रारम्भिक प्राकृतिक स्थिति को 'प्राकृतयुग' (स्टेट ऑव नेचर) की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[3] प्राकृतयुग की यह कल्पना जहाँ पाश्चात्य विचारकों के लिए प्राक्-राज्य युग का द्योतन कराती है,[4] भारतीय परम्परा में यह न केवल प्राक्-राज्य, अपितु प्राक्-समाज युग के रूप में स्वीकार की गयी है।[5] किन्तु पाश्चात्य हो या पौर्वात्य, प्राकृतयुग की कल्पना सर्वत्र पुरावृत्तात्मक वृत्तान्तों के रूप में ही देखने को मिलती है जिसका कोई तार्किक अथवा ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता।[6] वास्तव में पुरावृत्तों तथा देवकथाओं के माध्यम से किसी संस्कृति के मान्य मूल्यों और परम्पराओं को समाज में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जाता है और उनका आधार तर्क और इतिहास न होकर आस्था और दृढ़ विश्वास होता है,[7] इसलिये पुरावृत्तात्मक विवरण होने के कारण प्राकृतयुग की कल्पना को भी ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में न ग्रहण कर परम्परा और पूर्वमान्यता के रूप में ही स्वीकार करना चाहिये। प्राचीन भारतीय साहित्य में भी प्राकृतयुग की कल्पना राज्य और समाज की उत्पत्ति के पूर्व मानव-अस्तित्व के प्राथमिक प्राकृतिक युग के रूप में पुरावृत्तात्मक विवरणों में देखने को मिलती है जो तर्क और इतिहास

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की परिधि से परे मानवीय आस्था और विश्वास का विषय है। प्राचीन भारतीय मूल्यों और परम्पराओं के निर्वाहक के रूप में शान्तिपर्व में प्राकृतयुग की अवधारणा अपने परम्परागत भारतीय स्वरूप में प्राप्त होती है। राज्य की उत्पत्ति की परिस्थितियों की विवेचना करने के क्रम में शान्तिपर्व में दो स्थानों पर प्राक्-राज्य युग के दो विरोधी वर्णन प्राप्त होते हैं। एक स्थान पर यह प्राक्-राज्य युग सुख-शान्ति और समृद्धि से पूर्ण स्वर्णयुग के रूप में कल्पित किया गया है तो दूसरे स्थान पर यह अराजकतापूर्ण मात्स्यन्याय का युग बताया गया है। प्राक्-राज्ययुगीन इन दोनों वर्णनों को ही परवर्ती विचारकों ने प्राकृत-युग की अपनी कल्पना का आधार बनाया है, फलतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में प्राकृतयुग की दो ही अवधारणायें प्राप्त होती हैं; कहीं पर इसे स्वर्णयुग के रूप में अवधारित किया गया है तो कहीं मात्स्यन्याय-युग के रूप में।[८] वास्तव में प्राकृतयुग की कल्पना का अध्ययन अभी तक राज्य की उत्पत्ति तथा मानव-सभ्यता के प्रागैतिहासिक स्वरूप से सम्बन्धित प्रश्नों के सन्दर्भों में ही किया जाता रहा है, एक स्वतंत्र विषय के रूप में इसके अध्ययन का प्रयास प्रायः नहीं के बराबर ही रहा है। ऐसी स्थिति में अधिकांश विद्वानों ने प्राचीन स्रोतों के राजधर्म से सम्बन्धित अंशों को ही ग्रहण कर उन्हीं के प्रकाश में प्राकृतयुग को अवधारित करने का प्रयास किया है और इस प्रकार स्वर्णयुग या मात्स्यन्याययुग के रूप में प्राक्-राज्ययुग को ही प्राकृतयुग मान लिया है। शान्तिपर्व में स्थान-स्थान पर छिटपुट बिखरे हुए उन वर्णनों की ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं जा सका है जो प्राचीन भारतीय परम्परा में प्राक्-समाज युग का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस प्रकार स्वर्णयुग तथा मात्स्यन्याययुग से भिन्न प्राकृतयुग की अवधारणा को एक सर्वथा नया आयाम प्रदान करते हैं। इस अध्याय में शान्तिपर्व में प्राप्त उन बिखरे हुए अंशों को क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित करके उनके आधार पर मानव-अस्तित्व के मौलिक स्वरूप के धारक के रूप में प्राकृतयुग की अवधारणा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। प्राकृतयुग का यह अध्ययन उसके अपने सन्दर्भ में ही किया गया है, राजनीतिक सिद्धान्तों की विवेचना के लिए उसे स्वर्णयुग या मात्स्यन्याययुग के घेरे में बाँधकर रखने की कोई चेष्टा नहीं की गयी है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मात्स्यन्याययुग की प्राक्-राजनीतिक मान्यता और प्राकृतयुग

मात्स्यन्याययुग के रूप में प्राकृतयुग को अवधारित करने का प्रयास शान्तिपर्व में राजधर्मानुशासन पर्व के अन्तर्गत भीष्म और युधिष्ठिर के संवाद पर आधारित है जिसमें 'राष्ट्र' के नागरिकों के कर्त्तव्य बताने की युधिष्ठिर की प्रार्थना[९] पर भीष्म 'राजा की नियुक्ति' को नागरिकों का प्रधान कर्त्तव्य[१०] बताते हुए राज्य की उत्पत्ति के पूर्व की अराजकतापूर्ण परिस्थितियों का वर्णन करते हैं और अराजकतापूर्ण प्राक्-राज्य युग का यह वर्णन ही मात्स्यन्याययुग के रूप में प्राकृतयुग की कल्पना का आधार है। भीष्म के शब्दों में "हमने सुना है कि पूर्व-काल में राजा के न रहने पर, जिस प्रकार जल में बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा डालती है, उसी प्रकार, प्रजावर्ग के लोग आपस में एक दूसरे को नोचते-खसोटते हुए नष्ट हो गये थे।"[११] इस विनाशकारी स्थिति से छुटकारा पाने के लिए मनुष्यों के बीच हुए एक समझौते का वर्णन भीष्म करते हैं[१२] जो कुछ समय तक तो ठीक चलता रहा किन्तु कालान्तर में किसी सशक्त संरक्षक के अभाव में बलवानों द्वारा उसकी शर्तों का उल्लंघन किया जाने लगा। अन्त में 'दुखार्त्त प्रजा' की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से मनु को उनका राजा बनाया।[१३] इसी प्रकार दण्ड की उत्पत्ति की परिस्थितियों का विवेचन करते हुए भीष्म मान्धाता-वसुहोम संवाद के माध्यम से उसकी (दण्ड की) उत्पत्ति के पूर्व के अराजकतापूर्ण युग का वर्णन करते हैं[१४] जिसे अप्रत्यक्ष रूप से मात्स्यन्याययुग के रूप में प्राकृतयुग का वर्णन माना जा सकता है। भीष्म के अनुसार मान्धाता वसुहोम से बताते हैं कि "एक बार यज्ञ करने के इच्छुक ब्रह्मा ने अपने योग्य कोई ऋत्विज् न पाकर अपने मस्तक पर एक गर्भ धारण किया जो हजार वर्षों के बाद सहसा ब्रह्मा को छींक आ जाने से गिर पड़ा और उससे प्रजापति क्षुप् की उत्पत्ति हुई जिन्हें ऋत्विज् बनाकर ब्रह्मा ने यज्ञ प्रारम्भ किया।[१५] यज्ञ का प्रारम्भ होते ही ब्रह्मा का दण्ड लुप्त हो गया।[१६] दण्ड लुप्त होते ही प्रजा में वर्णसंकरता फैल गयी और कर्तव्याकर्तव्य तथा भक्ष्याभक्ष्य का विचार सर्वथा उठ गया।[१७] फिर पेयापेय का विचार ही कैसे रह सकता था। सब लोग एक दूसरे की हिंसा करने लगे। गम्यागम्य का विचार भी उस समय नहीं रह गया। अपना और पराया धन एक-सा समझा जाने लगा।[१८] जिस प्रकार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कुत्ते मांस के टुकड़े के लिए आपस में छीना-झपटी और नोंच-खसोट करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी परस्पर लूटपाट करने लगे। बलवान पुरुष दुर्बलों की हत्या करने लगे और सर्वत्र उच्छृङ्खलता फैल गयी।"[१९] शान्तिपर्व में प्राप्त अराजकतापूर्ण स्थितियों के ये वर्णन ही प्राकृतयुग को मात्स्यन्याययुग के रूप में अवधारित करने के आधार हैं। शान्तिपर्व के अतिरिक्त मात्स्यन्याययुग का वर्णन, अर्थशास्त्र,[२०] रामायण,[२१] जातक ग्रन्थों[२२] तथा मनुस्मृति[२३] में भी प्राप्त होता है यद्यपि बीजरूप में इसका प्राचीनतम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[२४] में किया गया है। किन्तु मात्स्यन्याययुग से सम्बन्धित इन सभी वर्णनों का, यदि उनके सन्दर्भों से अलग किये बिना, अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि ये सभी वर्णन अराजक, बल्कि कुछ सीमा तक प्राक्-राज्ययुग के वर्णन तो माने जा सकते हैं किन्तु प्राचीन भारतीय परम्पराओं की समग्रता के सन्दर्भ में ये प्राकृतयुग के वर्णन नहीं माने जा सकते, यदि प्राकृतयुग को प्राक्-राज्य युग के रूप में अवधारित करने की पाश्चात्य विचारकों की मान्यता से प्रभावित होकर पूर्वाग्रहग्रस्त हुए बिना इनका निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाय। शान्तिपर्व के मात्स्यन्याययुग के वर्णन इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि मात्स्यन्याययुग सभ्यता के उदय के पूर्व मानव-अस्तित्व के प्राथमिक और मौलिक स्वरूप का युग न होकर किसी पूर्ववर्ती आदर्श स्थिति से पतन और ह्रास का युग था। मात्स्यन्याययुग के वर्णन में शान्तिपर्वकार जब लोगों में धर्माधर्मविवेक नष्ट होने तथा परधन और परस्त्री के अपहरण की बात कहता है[२५] तो उसके कथनों से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि मात्स्यन्याय की स्थिति आने के पूर्व के युग में धर्माधर्मविवेक जैसी कोई मान्यता थी और सम्पत्ति तथा विवाह जैसी संस्थायें अस्तित्व में आ चुकी थीं अन्यथा परधन और परस्त्री जैसे शब्दों का प्रयोग शान्तिपर्वकार के लिए अभीष्ट न होता। शान्तिपर्व में प्राप्त मात्स्यन्याययुग के ये वर्णन अराजकयुग के ही अधिक लगते हैं, प्राकृतयुग के कम। ऐसा प्रतीत होता है कि शान्तिपर्वकार ने अराजकता का कोई युग स्वयं देखा और भोगा होगा[२६] और उसी की प्रतिक्रिया में उसने राज्य और दण्ड की अनिवार्यता का अनुभव कर इन संस्थाओं के अस्तित्व का औचित्य स्थापित करने के लिए इस अराजकतापूर्ण युग को प्राकृतयुग के रूप में अवधारित करने का प्रयास किया होगा। यह भी सम्भव है

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कि शान्तिपर्वकार ने यह प्रयास किसी पूर्वकालीन परम्परा का निर्वाह करने के क्रम में किया हो क्योंकि बीजरूप में इस प्रयास का प्रारम्भ शतपथ ब्राह्मण की रचना के समय से हो चुका था जिसने बाद में जातकग्रंथों, रामायण, अर्थशास्त्र और मनुस्मृति के काल तक आते-आते एक परम्परा का रूप ग्रहण कर लिया। कम से कम मनु और कौटिल्य[27] के वर्णनों से तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि मात्स्यन्याय-युग अराजकता का ही युग था क्योंकि अर्थशास्त्र स्पष्ट रूप से घोषित करता है कि दण्ड का अप्रयोग मात्स्यन्याय को जन्म देता है।[28] कौटिल्य का यह कथन ही यह स्पष्ट कर देता है कि मात्स्यन्याययुग प्राकृतयुग नहीं, बल्कि दण्ड के अप्रयोग अथवा अनुचित प्रयोग का परिणाम है। इसलिए मात्स्यन्याययुग के रूप में प्राकृतयुग को अवधारित करना अनुचित होगा।

प्राकृतयुग और प्राक्-राजनीतिक स्थिति के रूप में 'स्वर्णयुग'

स्वर्णयुग के रूप में शान्तिपर्व में प्राकृतयुग की कल्पना का आधार भीष्म और युधिष्ठिर का वह संवाद है जिसमें युधिष्ठिर के प्रश्न "शरीर और बनावट में सामान्य मनुष्य-सा प्रतीत होने वाला राजा किस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करता है"[29] तथा 'राजत्व की उत्पत्ति' बताने के उनके अनुरोध पर भीष्म प्राक्-राज्ययुग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "पहले न कोई राज्य था, न राजा; न दण्ड था और न दाण्डिक। प्रजावर्ग के सभी लोग धर्म के द्वारा परस्पर रक्षा किया करते थे।[30] सभी मनुष्य धर्म के द्वारा ही परस्पर पालित-पोषित होते थे।"[31] प्राक्-राज्ययुगीन इस वर्णन के पश्चात् भीष्म यह बताते हैं कि किस प्रकार लोभ, मोह, राग, द्वेष, काम और क्रोध आदि के वशीभूत हो जाने पर लोगों में धर्माधर्मविवेक नष्ट हो गया जिससे कर्तव्याकर्तव्य, गम्यागम्य, भक्ष्याभक्ष्य और दोषादोष का अन्तर मिटने लगा तथा धर्म और वेद का नाश होने लगा[32] जिसके कारण दुःखी देवताओं की प्रार्थना[33] पर ब्रह्मा ने नीतिशास्त्र के अन्तर्गत दण्डनीति का निर्माण किया[34] और उसके सम्यक् संचालन के लिए विष्णु ने राजा बनाया।[35] भीष्म का यह वर्णन यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से राज्य और राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए सामने आता है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से यह उस आदर्शयुग का चित्र भी प्रस्तुत करता है जिसे विद्वानों का एक वर्ग प्राकृतयुग के रूप में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अवधारित करने का प्रयास करता है। स्वर्णयुग के रूप में प्राकृतयुग को अवधारित करने का प्रयास रामायण के अयोध्याकाण्ड में अगस्त्य और राम के संवाद में भी दिखायी पड़ता है जहाँ पर कि ऋषि अगस्त्य राम से राज्य की उत्पत्ति के पूर्व के एक आदर्श युग का वर्णन बिल्कुल उन्हीं शब्दों में करते हैं जिनमें शान्तिपर्व करता है।[३६] थोड़े बहुत अन्तरों के साथ बौद्ध[३७] और जैन साहित्य[३८] में भी इस आदर्श युग का वर्णन प्राप्त होता है किन्तु जहाँ रामायण और महाभारत इस आदर्श स्थिति से पतन होने पर लोक में व्यवस्था स्थापित करने के लिए दैवी हस्तक्षेप का वर्णन करते हैं, वहाँ बौद्ध और जैन साहित्य में निर्वाचन के द्वारा राजा की नियुक्ति का वर्णन किया गया है। शान्तिपर्व की स्वर्णयुग के रूप में प्राकृतयुग की अवधारणा की इन ग्रन्थों में प्राप्त कल्पनाओं से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि थोड़े बहुत अन्तरों के बावजूद मूलतः वे एक ही हैं और उनका स्रोत मानव-स्वभाव की नैसर्गिक शुभता के प्रति उनका विश्वास है। मानव-स्वभाव की नैसर्गिक शुभता के प्रति यह विश्वास ही लॉक[३९] और रूसो[४०] के 'धर्म और विवेक से सम्पन्न आदर्श युग' के रूप में प्राकृतयुग की अवधारणा को जन्म देता है। इसके विपरीत मानव-स्वभाव की नैसर्गिक शुभता के प्रति सन्देहशील हॉब्स[४१] और मैकियावेली[४२] जैसे विचारकों का प्राकृतयुग मात्स्यन्याययुग के रूप में सामने आता है। शान्तिपर्व का स्वर्णयुग एक ऐसे सुव्यवस्थित आदर्श समाज का चित्र प्रस्तुत करता है जिसमें सर्वत्र सुख-शान्ति का वातावरण था। लोग अपने धर्म के पालन में रत रहते थे और दूसरों की धर्म-पालन में सहायता करते थे। राजनीतिक जीवन का उदय अभी नहीं हुआ था किन्तु लोग सामाजिक जीवन से अपरिचित नहीं थे क्योंकि शान्तिपर्वकार जब काम, मोह, लोभ और राग के वशीभूत हुए लोगों में धर्माधर्मविवेक नष्ट होने की बात करता है और इस कारण गम्यागम्य, भक्ष्याभक्ष्य और दोषादोष का भेद समाप्त हो जाने की चर्चा करता है तो इससे निश्चित रूप से यही अर्थ निकलता है कि इस वासनाओं के व्याप्त होने के पूर्व लोगों में ये सारे भेद पूरी तरह से वर्तमान थे और निजी सम्पत्ति तथा विवाह जैसी संस्थायें भी अस्तित्व में आ चुकी थीं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शान्तिपर्व में कल्पित स्वर्णयुग की यह कल्पना किसी पूर्णविकसित आदर्श सामाजिक स्थिति

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का चित्रण है जिसमें लोगों की नागरिक भावना इतनी उन्नत थी कि किसी बाह्य माध्यम के बिना ही कर्तव्याकर्तव्य का प्रश्न पूरी तरह उनके विवेक पर छोड़ा जा सकता था। उल्लेखनीय है कि 'सभा' की उत्पत्ति बताने के प्रयास में धर्मशास्त्र भी एक ऐसे आदर्शयुग का वर्णन करते हैं जिसमें लोगों के आचरण इतने शुद्ध थे कि न्याय-निर्धारण तथा न्यायिक निर्णयों को लागू करने के लिए पृथक् संस्थाओं की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।[४२] इस आदर्श स्थिति का पतन मात्स्यन्याययुग की अराजकता में हुआ जिससे त्राण पाने के लिए दण्ड की अनिवार्यता राज्य की उत्पत्ति के साथ प्रकट होती है। स्वर्णयुग तथा मात्स्यन्याययुग की परम्परायें इस प्रकार अलग-अलग परम्परायें नहीं हैं, जैसा कि कुछ विद्वानों ने समझा है। स्वर्णयुग का ही पतन मात्स्यन्याययुग में होता है जो राज्य तथा दण्ड की उत्पत्ति का कारण बनता है।

प्राकृतयुग का प्राक्-सामाजिक स्तर—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वर्णयुग तथा मात्स्यन्याययुग के रूप में शान्तिपर्व में प्राकृतयुग को अवधारित करना विद्वानों का एक भ्रामक तथा तथ्यों को संदर्भों से अलग करके देखने का प्रयास है। ये दोनों ही वर्णन शान्तिपर्व में प्राक्-राज्य सामाजिक युग का प्रतिनिधित्व तो करते हैं (जिसमें स्वर्णयुग यदि उच्चतम सामाजिक उत्थान का आदर्श युग है तो मात्स्यन्याययुग निम्नतम पतन का अवांछित युग) किन्तु शान्तिपर्व में मानव-अस्तित्व के उस मौलिक स्वरूप की अवधारणा इन दोनों में से किसी के साथ भी समीकृत नहीं की जा सकती जो उसकी स्वाभाविक वृत्तियों में किसी भी प्रकार के कृत्रिम या परिस्थितिजन्य परिवर्तन आने के पूर्व वर्तमान थी क्योंकि भारतीय परम्परा मानव-अस्तित्व के उस मौलिक स्वरूप को प्राक्-राज्य ही नहीं बल्कि प्राक्-सामाजिक रूप में भी चित्रित करती है। सत्ययुग अथवा कृतयुग के रूप में मानव-अस्तित्व के मौलिक स्वरूप की यह अवधारणा शान्तिपर्व में स्थान-स्थान पर बिखरे हुए वर्णनों को एकत्र कर उन्हें सुव्यवस्थित क्रम में स्थापित करके देखने पर काफी स्पष्टता के साथ उभरती है जो प्राचीन परम्पराओं की समग्रता में अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है। शान्तिपर्व के ये बिखरे हुए वर्णन समाज-निर्माण के पूर्व के एक ऐसे वैयक्तिक युग का चित्र प्रस्तुत करते हैं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जिसमें मानव अपनी नैसर्गिक पूर्णता के साथ पूरी तरह आत्मनिर्भर 'व्यक्ति' के रूप में वर्णित किया गया है जो दुनिया की सारी चिन्ताओं से मुक्त, परम सुखी और अपनी सारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पूरी तरह आत्मनिर्भर था। अपने अतिरिक्त किसी अन्य की उसे कोई आवश्यकता नहीं थी। उसकी सारी आवश्यकतायें इच्छा करते ही पूरी हो जाती थी।[४४] भोज्यसामग्री बिना जोते-बोये (अकृष्टपच्य) स्वतः उपलब्ध हो जाती थी।[४५] मैथुन का प्रचलन नहीं था तथा संतानें संकल्प मात्र से उत्पन्न होती थी।[४६] सभी ऋतुयें सुखदायिनी और आरोग्य बढ़ाने वाली थी। लोगों के स्वर, वर्ण और मन स्वच्छ तथा प्रसन्न रहते थे।[४७] मृत्यु का उन्हें कोई भय नहीं था और अपनी इच्छा से वे जब तक चाहते शरीर धारण करते थे।[४८] मानव-अस्तित्व के मौलिक स्वरूप से सम्बन्धित शान्तिपर्व की इस कल्पना का पूर्ण विस्तार पुराणों में प्राप्त होता है और चूँकि शान्तिपर्व और पुराणों की कल्पना का मूल स्रोत एक ही है (और वह प्राचीन भारतीय परम्पराओं के प्रति उनका विश्वास है)[४९] अतः शान्तिपर्व में वर्णित प्राकृतयुग की इस कल्पना को पुराणों की कल्पना के साथ मिलाकर देखने पर मानव-अस्तित्व के मौलिक स्वरूप अर्थात् प्राकृत युग की अवधारणा अपने सुस्पष्ट रूप में अभिव्यक्त होती है जो थोड़े बहुत अन्तरों के साथ सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय परम्परा में प्रतिबिम्बित होती है। प्राकृतयुग से सम्बन्धित पौराणिक विवरण हमें बताता है कि "सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने अपने मुख, वक्ष, जंघा तथा पैरों से क्रमशः सत्वयुक्त, रजयुक्त, रज तथा तमयुक्त तथा तमयुक्त युग्मों को हजारों की संख्या में उत्पन्न किया।[५०] ये युग्म अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूरी तरह आत्मनिर्भर थे। उनकी सारी आवश्यकतायें इच्छा करते ही पूरी हो जाती थी।[५१] भोज्यसामग्री बिना जोते-बोये स्वतः प्राप्त होती थी।[५२] यद्यपि उनकी संख्या हजारों में थी तथापि वे निर्द्वन्द्व और जीवन के सभी सुखों का उपभोग करते हुए दुनिया की सारी चिन्ताओं से मुक्त, नदियों के किनारे तथा पहाड़ों की तलहटी में रहते हुए[५३] जब तब इच्छा रहती जीवित रहते और जीवन के अन्त में अपनी तरह के एक दूसरे युग्म को उत्पन्न कर मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे।[५४] उस समय का वातावरण न तो बहुत उष्ण था और न ही बहुत शीतल।"[५५] प्राकृतयुग से सम्बन्धित शान्तिपर्व

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तथा पुराणों के वर्णन एक दो बातों के अतिरिक्त लगभग समान ही हैं। शान्तिपर्व का प्राकृतयुग (अथवा कृतयुग) जहाँ धर्म से सर्वथा व्याप्त बताया गया है,[१६] वहाँ पुराण इसे धर्माधर्म से परे की स्थिति मानते हैं।[१७] इसके अतिरिक्त शान्तिपर्व मैथुन के प्रचलन के अभाव में जहाँ संकल्प से सन्तानोत्पत्ति का वर्णन करता है वहाँ पुराण स्त्री-पुरुष के युग्म के रूप में लोगों के उत्पन्न होने की बात करते हैं जो जीवन के अन्त में अपनी तरह के दूसरे युग्म को जन्म देकर समाप्त हो जाते थे। किन्तु शान्तिपर्व और पुराणों में प्राकृतयुग से सम्बन्धित वर्णनों में दिखायी पड़ने वाला यह विरोध (यदि इन वर्णनों की पुरावृत्तात्मकता को ध्यान में रखकर देखा जाय तो) केवल वर्णनात्मक स्तर का विरोध ही प्रतीत होता है जो अभिव्यक्ति की भिन्नता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है; तथ्यात्मक स्तर पर दोनों एक ही हैं और उनमें कोई अन्तर नहीं है। शान्तिपर्व का प्राकृतयुग यदि धर्म से सर्वथा व्याप्त बताया गया है तो उसका कारण यह है कि उस समय धर्म-अधर्म का कुछ भेद ही नहीं था। प्राकृतयुग का यह सर्वव्यापी धर्म निसर्ग का धर्म था जो किसी भी प्रकार की द्वैतात्मकता से परे पूर्ण स्वतंत्र और निरपेक्ष था और अपने मौलिक स्वरूप में सृष्टि-व्यवस्था को भी नियमित और संचालित करता था।[१८] शान्तिपर्व में वर्णित प्राकृतयुग के इस धर्म को उस मौलिक धर्म (ऋत) के रूप में ग्रहण करने पर पुराणों और शान्तिपर्व के कथनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता क्योंकि ऋत से व्याप्त स्थिति ही वह निरपेक्ष स्थिति है जो धर्माधर्म से परे किन्तु पूर्ण धर्ममयता की स्थिति का द्योतन कराती है। हर प्रकार की द्वैतात्मकता से मुक्त यह स्थिति भारतीय विचारधारा में नैतिक पूर्णता की स्थिति को अभिव्यक्त करती है। इसी प्रकार संकल्प से संतानोत्पत्ति तथा युग्मो के रूप मे लोगों के उत्पन्न होने के इन पुरावृत्तात्मक वर्णनों की पृष्ठभूमि में व्यक्ति की (यौन विषयों तक में) पूर्ण आत्मनिर्भरता को प्रस्तुत करना ही इन विचारकों का उद्देश्य प्रतीत होता है, इन वर्णनों को कोई तार्किक अथवा ऐतिहासिक आधार प्रदान करना नहीं। कुछ अस्पष्ट वर्णनों में बौद्ध और जैन साहित्य में भी मानव-अस्तित्व के मौलिक स्वरूप की कल्पना इसी प्रकार से की गयी है। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय एक ऐसे युग का वर्णन करता है जिसमें ईथर के बने द्युतिमान शरीरों वाले लोग प्रसन्नता तथा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धर्ममयता के वातावरण में अत्यन्त सुखपूर्वक रहते थे।[५९] शान्तिपर्व तथा पुराणों के वर्णनों से समानता रखते हुए दीघनिकाय भी इस युग के लोगों में लिंग-भेद को स्वीकार नहीं करता क्योंकि जब वह इस आदर्श स्थिति से पतन की बात करता है तो सर्वप्रथम लिंग-भेद की उत्पत्ति और तत्पश्चात अन्य बुराइयों के उत्पन्न होने का वर्णन करता है।[६०] इसी प्रकार आचार्य रविषेणकृत जैनग्रन्थ पद्मपुराण में मानव अस्तित्व के सुषमाकाल (प्राकृतयुग) का वर्णन किया गया है जब कि पृथ्वी कल्पवृक्षों से व्याप्त भोग-भूमि थी।[६१] इस समय यहाँ मध्याह्न के सूर्य के समान देदीप्यमान, दो कोश ऊँचे और सर्वलक्षणों से सम्पन्न लोग (प्रजा) निवास करते थे। स्त्री-पुरुष का युग्म साथ ही उत्पन्न होता था। उनकी आय तीन पल्य होती थी और प्रेमबन्धनबद्ध रहते हुए साथ-साथ ही उनकी मृत्यु होती थी। यहाँ की भूमि सुवर्ण तथा नाना प्रकार के रत्नों से खचित थी और काल के प्रभाव से सब के लिये मनोवाञ्छित फल प्रदान करने वाली थी।[६२]............वहाँ न अधिक शीत पड़ती थी, न अधिक गर्मी और न तीव्र वायु चलती थी। वह सब प्रकार के भयों से रहित था।[६३] इसी क्रम में आगे का वर्णन करते हुए पुराणकार कहता है कि, "उस समय कल्पवृक्ष पूर्णरूप से नष्ट हो चुके थे इसलिये समस्त पृथ्वी 'अकृष्टपच्य' अर्थात् बिना जोते-बोये स्वतः उत्पन्न हो जाने वाले धान्यों से सुशोभित थी। उस समय की प्रजा 'वाणिज्य' अर्थात् लेन-देन के व्यवहार तथा शिल्प से रहित थी तथा धर्म का नाम भी न होने के कारण पाखण्ड से भी रहित थी।"[६४] मानव-अस्तित्व के प्राकृतयुग के इन सभी वर्णनों को यदि एक साथ रखकर उनका बारीकी से अध्ययन किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी वर्णन अभिव्यक्ति की भिन्नता के बावजूद तथ्यात्मक स्तर पर कुछ थोड़े से अन्तरों के होते हुये भी, प्रायः एक जैसे ही हैं। उसकी कल्पना का स्रोत एक ही है और एक ही परम्परा का निर्वाह उनमें किया गया है। ऊपर से दिखायी पड़ने वाले अन्तर मात्र अभिव्यक्ति के अन्तर हैं।[६५] समाज की उत्पत्ति के पूर्व आत्म-निर्भर वैयक्तिक युग का अस्तित्व सभी स्वीकार करते हैं और यही वैयक्तिक युग भारतीय परम्परा में मानव-अस्तित्व के मौलिक स्वरूप के साथ-साथ प्राकृतयुग में मानव-अस्तित्व के प्राक्-सामाजिक स्तर को भी अभिव्यक्त करता है जिसका स्पष्ट और प्रत्यक्ष वर्णन यद्यपि कहीं भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नहीं किया गया है[६६] किन्तु उपर्युक्त सभी स्रोतों में स्थान-स्थान पर बिखरे हुए वर्णनों में उसकी अस्पष्ट चर्चा अवश्य आ गयी है। शान्तिपर्व में वर्णित स्वर्णयुग की कल्पना इस पूर्ण निर्भर वैयक्तिकयुग के बाद की स्थिति है जबकि स्वतः उपलब्ध खाद्यसामग्री की न्यूनता के कारण लोगों को अपने भोजन की व्यवस्था स्वयं करनी पड़ी और यह व्यवस्था 'वार्ता' के रूप में सामने आयी जिसमें कृषि और पशुपालन प्रमुख थे।[६७] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य इस काल में खाद्य-संग्राहक से खाद्य-उत्पादक की स्थिति तक पहुँच गया। उत्पादन के कार्य में उसे दूसरों की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इस आर्थिक क्रियात्मकता के कारण सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों का आविर्भाव हुआ और समाज का निर्माण हुआ।[६८] समाज का निर्माण होने के साथ-ही-साथ समाज के नियम भी बने और चूँकि शान्तिपर्व का प्राथमिक मानव हर प्रकार की द्वैतात्मकता से रहित विवेक-सम्पन्न प्राणी था[६९] अतः इन नियमों का पालन बिना किसी बाह्य माध्यम के अपनी आंतरिक प्रेरणा से करता था। यह युग ही शान्तिपर्व की कल्पना का स्वर्णयुग था जिसमें बिना किसी राजा, दण्ड अथवा दाण्डिक की सहायता के सभी लोग धर्मपालन में रत रहते थे और दूसरों की धर्मपालन में सहायता करते थे किन्तु स्वर्णयुग की यह आदर्श स्थिति हमेशा न रह सकी। कृतयुग में मानव-नियति में निहित अधर्म का बीज व्यक्त अवस्था को नहीं प्राप्त कर सका था फलस्वरूप शान्तिपर्व कृतयुग को अधर्म से पूर्णतया रहित तथा धर्म के चारों पैरों से व्याप्त युग के रूप में चित्रित करता है[७०] किन्तु कालान्तर में कृतयुग से त्रेता के संक्रमण-काल में ये बीज अंकुरित होने लगे और त्रेता के आते-आते मानव-स्वभाव का द्वैतात्मक स्वरूप प्रकट हो गया जिसके कारण त्रेता को धर्म के तीन पैरों तथा अधर्म के एक पैर से युक्त बताया गया है।[७१] अधर्म का बीज वृद्धि प्राप्त कर लोभ, मोह, राग और द्वेष आदि वासनाओं के रूप में मानव-स्वभाव को आच्छादित करने लगा जिसके कारण लोगों का विवेक नष्ट हो गया। विवेकभ्रष्ट लोगों में कर्तव्याकर्तव्य का भेद समाप्त हो जाने से समाज में अत्याचार और अनाचार फैलने लगा तथा मात्स्यन्याययुग का प्रारम्भ हो गया[७२] जिससे त्राण पाने के लिए दैवी हस्तक्षेप के फलस्वरूप राजा और दण्ड का प्रादुर्भाव हुआ। समाज और राज्य इस प्रकार शान्तिपर्व में भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मानव-सभ्यता की क्रमिक परिणति के रूप में सामने आते हैं अतः मानव-अस्तित्व के मौलिक स्वरूप की शान्तिपर्व की अवधारणा को इन संस्थाओं के उदय के पूर्व उसके प्राकृतयुगीन रूप में ही स्वीकार करना चाहिये। स्वर्णयुग तथा मात्स्यन्याययुग की कल्पनायें राज्य की उत्पत्ति तथा उसके उद्देश्यों को विवेचित करने के दृष्टिकोण से परिकल्पित सहैतुक उद्भावनायें हैं जो स्वयं में प्राकृतयुग की अवधारणायें नहीं कही जा सकतीं। प्राकृतयुग इन दोनों से पूर्ववर्ती मानव-अस्तित्व के मौलिक स्वरूप को व्यक्त करने वाली एक पुरावृत्तात्मक पूर्वमान्यता है जो समस्त प्राचीन भारतीय सामाजिक चिन्तन तथा तत्सम्बन्धी सचेतन प्रक्रियाओं के मूल में है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साथ ही साथ वैयक्तिक शुद्धता की प्राथमिक पराकाष्ठा का चरम निदर्शन भी है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. ग्लुकमैन, मैक्स, पॉलिटिक्स, लॉ एण्ड रिचुअल्स इन द ट्राइबल सोसाइटी आक्सफोर्ड, १९७१, पृ० ३५–३६; एफ० रेमन्ड, 'सोशल एन्थ्रोपोलॉजी' इन्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज, जिल्द—१, पृ० ३२१; लेविस, आई० एम०, 'ट्राइबल सोसाइटी', इन्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज, जिल्द—१६, पृ० १४६; अल्तेकर, ए० एस०, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शिएन्ट इण्डिया, (पुर्नमुद्रित) वाराणसी, १९७७, पृ० ३३–३१।

२. राय बी० पी०, पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन महाभारत, कलकत्ता, १९७५, पृ० ९५–९६।

३. जफा, हैरी वी०. 'नेचुरल राइट्स' इ० इ० सो० सा०, जिल्द—११, पृ० ८७; रोजेन्थल एम० तथा यूदीं, पी० (सं०), ए डिक्शनरी ऑव फिलासफी, पृ० ४१३

४. सैबाइन, जी० एच०, ए हिस्ट्री ऑव पोलिटिकल थ्योरी, न्यूयार्क, १९६१, पृ० ७८; ओम प्रकाश, पोलिटिकल आइडियाज इन द पुराण, इलाहाबाद, १९७७, पृ० ३०, पाद टिप्पणी—६

५. उल्लेखनीय है कि भारतीय परम्परा में इस प्राक्-सामाजिक युग का वर्णन सत्ययुग अथवा कृतयुग के रूप में किया गया है। प्राकृतयुग (स्टेट ऑव नेचर) अथवा उसके समानार्थक किसी अन्य शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य में कहीं भी नहीं प्राप्त होता। वास्तव में अठारहवीं शताब्दी के पाश्चात्य अनुबन्धवादी राजनीतिक चिन्तकों ने सर्वप्रथम मानव-स्वभाव के विश्लेषणात्मक अध्ययन के द्वारा राज्य की उत्पत्ति के पूर्व मानव-अस्तित्व के मौलिक-स्वरूप को समझने के लिए मानव-सभ्यता के अध्ययन-क्रम में प्राक्-राज्य युग को प्राकृतयुग

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(स्टेट ऑव नेचर) का नाम दिया—देखिए, ओमप्रकाश, पूर्वोक्त, पृ० ३१; राय, बी० पी०, पूर्वोक्त, पृ० ८५। प्रस्तुत लेख में इस शब्द का प्रयोग शान्तिपर्व में मानव-अस्तित्व के मौलिक स्वरूप का बोध कराने वाले प्राक्-समाज युग के लिए किया गया है।

६. ओमप्रकाश, पूर्वोक्त, पृ० ३६।

७. फिनले, एम० आई०, द यूज एण्ड एब्यूज ऑव हिस्ट्री, लंदन, १९७५, पृ० १३–१५; मैवेट, आई० डब्लू०, ट्रूथ, मिथ एण्ड पॉलिटिक्स इन एन्शिएन्ट इण्डिया, दिल्ली, १९७२, पृ० ७१; रुन्स, डी० डी० (सं०) ए डिक्शनरी ऑव फिलासफी, लन्दन, १९४५, पृ० २०३।

८. वास्तव में ये दोनों ही अवधारणायें मानव-स्वभाव के नैसर्गिक स्वरूप के आधार पर राज्य की उत्पत्ति को समझाने की दो अलग-अलग विचारधाराओं के प्रयास का परिणाम हैं जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत दो भिन्न-भिन्न परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। एक परम्परा यदि मानव-स्वभाव की नैसर्गिक शुभता में विश्वास रखने के कारण स्वर्णयुग के रूप में (प्राक्-राज्ययुग को ही) प्राकृतयुग को अवधारित करने का प्रयास करती है तो दूसरी मानव को स्वभावतः बुरा प्राणी मानकर मात्स्यन्याययुग को प्राकृतयुग बताने की चेष्टा करती है। प्राचीन परम्पराओं के निर्वाहक के रूप में शान्तिपर्व इन दोनों परम्पराओं का उल्लेख करता है और इनके साथ-ही-साथ उनके संयोजन का प्रयास भी करता है। मानव-स्वभाव से सम्बन्धित इन दोनों अतिवादी विचार-धाराओं को अस्वीकार कर शान्तिपर्व एक मध्यम मार्ग की स्थापना करता है। मानव-स्वभाव को शान्तिपर्व नैसर्गिक रूप से न तो अच्छा मानता है और न ही उसे पूरी तरह से बुरा स्वीकार करता है। उसकी धारणा है कि मानव-स्वभाव में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के भाव संयुक्त रूप से रहते हैं (शान्ति०, २२४.५६) तथा उसके भीतर इन दोनों भावों का निरन्तर संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष में शुभ प्रवृत्तियों की विजय होने पर स्वर्णयुग की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत अशुभ की विजय मात्स्यन्याययुग को जन्म देती है। स्वर्णयुग और मात्स्यन्याययुग इस प्रकार किसी ऐतिहासिक युग का प्रतिनिधित्व नहीं करते बल्कि मानव-स्वभाव का विवेचन करने के प्रयास में मानव

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अस्तित्व के मौलिक स्वरूप के विषय में विचारकों की कल्पनाओं का परिणाम है।

९. शान्तिपर्व, (बी० ओ० आर० आई० संस्करण) पूना, १९७४, ६७.१।

१०. शान्ति०, ६७.२

११. वही, ६७.१७

१२. वही, ६७.१८–१९

१३. वही, ६७.२०–२१

१४. वही, अध्याय—१२२,

१५. वही, १२२.१५–१७

१६. वही, १२२.१८

१७. वही. १२२ १९

१८. वही, १२२–२०

१९. वही, १२२.२१.

२०. अर्थशास्त्र, (सं०) आर० पी० कांगले, भाग—१, बम्बई (द्वितीय सं०) १९६९, १.४. १३–१४.

२१. अयोध्याकाण्ड, (सं०) पी० एल०, वैद्य, बड़ौदा, १९६०, ६१.२१.

२२. जातक (सं०) वी० फौजबाल, जिल्द—५, लंदन, १९६३, पृ० ४६२–४६४, (हि० अनु०) भदन्त आनन्द कौसल्यायन, इलाहाबाद, १९५४, पृ० १८५.

२३. मनुस्मृति (चौखम्भा सं०), (हि० अनु०) हरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी, १९७०, ७.३, २०

२४. शतपथ ब्राह्मण, ११.१.६.२४, (अंग्रेजी अनु०) जूलियस इर्गलिंग, सैक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, जिल्द—४४, (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, १९७२, पृ० १८.

२५. शान्ति०, ६७.१८; १२२.२०

२६. मिश्र, एस० एन०, 'द स्टेट ऑव नेचर इन एन्शिएन्ट इण्डियन लिटरेचर' जर्नल ऑव एन्शिएन्ट इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द—४, भाग १–२, कलकत्ता—१९७१, पृ० १५७

२७. अर्थशास्त्र, १.४.१३, मनु०, ७.३

२८. 'अप्रणीतस्तु मात्स्यन्यायमुद्भावति' अर्थ०, १.४.१३

२९. शान्ति०, ५९.५—६

३०. वही. ५९.१४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

३१. 'पालयानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत, शान्ति०', ५६.१५

३२. वही, ५६.१६–२१

३३. वही, ५६.२४–२७

३४. वही, ५६.२६

३५. वही, ५६.६७–११०

३६. एस० एन० मिश्र द्वारा उपर्युक्त लेख में उद्धृत, रामायण, २.७.१०–३३ यद्यपि रामायण के बड़ौदा संस्करण तथा गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण में यह उल्लेख लेखक को ढूंढ़ने पर प्राप्त न हो सका।

३७. दीघनिकाय—भाग—३, (अंग्रेजी अनु०) सैक्रेड बुक्स ऑव द बुद्धिस्ट्स, जिल्द—४, प्राकृत टेक्सट्स सोसाइटी, लंदन, १६७७, पृ० ८३–८४, घोषाल, यू० एन०, ए हिस्ट्री ऑव इन्डियन पोलिटिकल आइडियाज, बम्बई, १६२६, पृ० ८४–८५.

३८. पद्मपुराण, भाग—१, (सं०) पी० एल० जैन, वाराणसी, १६७७, ३.२५५–५८.

३६. सैबाइन, जी० एच०, पूर्वोक्त, पृ० ५२६; रोजली, एल० कुली, 'जॉन लॉक' इ० इ० सो० सा०, जिल्द—६, पृ० ४६६; पाण्डेय, एस० एल० 'शान्तिपर्व में सामाजिक अनुवन्धवाद' द जर्नल ऑव यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, जिल्द—२, भाग—१, १६५४, पृ० ६३.

४०. सैबाइन, पूर्वोक्त, पृ०, १७८, ५८३–५८४.

४१. वही, पृ० ४६३–४६४; पी० जगोरिन, इ० इ० सो० सा०, जिल्द—५, पृ० ४८३; और भी तुलनीय, नौलैण्ड, ए०, 'हिस्ट्री एण्ड मोरेलिटी', यूजेज ऑव हिस्ट्री (सं०) हैडेन, वी० ह्वाइट, मिशिगन, १६५६, पृ० ६७.

४२. जोन्स, डब्लू० टी०, मास्टर्स ऑव पोलिटिकल थॉट, (पुनर्मुद्रित) लंदन, १६५६, पृ० २६–३०.

४३. शर्मा, आर० एस०, आस्पेक्ट्स ऑव पोलिटिकल आइडियाज एन्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शिएन्ट इण्डिया (द्वितीय सं०), दिल्ली, १६६८, पृ० ५५ में उद्धृत नारद एवं बृहस्पति के कथन इस आदर्श युग की ओर स्पष्ट संकेट करते हैं।

४४. शान्ति०, ७०.६; २२४.२४.

४५. वही, ७०.१२; २२५.१२.

४६. वही, २००.३५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

४७. वही, ७०·१०

४८ वही, २००·३४

४९ तुलनीय, जेकोबी, एच०, 'एजेज ऑव द वर्ल्ड', इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड इथिक्स, जिल्द—१, पृ० २००; ओमप्रकाश पूर्वोक्त, पृ० ५.

५०. वायु पुराण (वेंकटेश्वर प्रेस सं०) बम्बई, १९३३, १·८·३१, ३३, ३६–३९; मार्कण्डेय पुराण (वेंकटेश्वर प्रेस सं०), ४९·३–६, ब्रह्मांड पुराण (वेंकटेश्वर सं०), बम्बई, १९१३, १·७·३३–३६.

५१. ओम प्रकाश, पूर्वोक्त पृ० ३२, जैकोबी, पूर्वोक्त, पृ० २०१.

५२. वायु पुराण, १ ८·४४ तथा आगे, मार्कण्डेय पुराण, ४९·११ तथा आगे; लिंग पुराण (सं०) जे० विद्यासागर, कलकत्ता, १८८५, ३९·१४ तथा आगे; कूर्म पु० १·२९·१४

५३. वायु पु०, ८ ४६. ९१–९४, १२३, १२६, १३१, शुक्ल, बी० सी०, 'वायु पुराण में प्रागैतिहासिक समाज का चित्रण' मानव, वर्ष—७, अंक—१, १९७९, पृ० २, ३

५४. मार्क० पु०, ४९·८–१०; वायु पु०, १·८·४०–४२, जैकोबी, पूर्वोक्त, पृ० २००

५५. उपरोक्त टिप्पणी—५२

५६. शान्ति०, ७०·८; २२४·२२

५७. 'धर्माधर्मौ तदा नास्तः कल्पादौ प्रथमे युगे' वायु०, पु० १·८·४८, ब्रह्माण्ड पु०, १ ७·४

५८. कोलर, जे० एम०, 'धर्म : ऐन एक्सप्रेशन ऑव युनिवर्सल आर्डर' फिलासफी ईस्ट एण्ड वेस्ट, २२ (१९७२), पृ० १३४; क्रील, ए० बी०, धर्म इन हिन्दू एथिक्स, कलकत्ता, १९७७, पृ० ३

५९. दीघनिकाय, भाग—३, एस० बी० बी०, जिल्द—४, पृ० ८२–८३, राकहिल, डब्लू० डब्लू०, द लाइफ ऑव बुद्ध, लन्दन, १९०७, पृ० २–६

६०. दीघनिकाय, पृ० ८५, राकहिल, पूर्वोक्त, पृ० ४, मिश्र० एस० एन० पूर्वोक्त, पृ० १५५

६१. पद्म पुराण, ३·४९, आदि पुराण, (सं०) पी० एल० जैन, वाराणसी १९६३, ३·२४

६२. प० पु० ३·५०, ५२; आदि पु०, ३·२५–३३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

६३. प० पुराण, ३ ५६
६४. वही, ३·२३१ २३२
६५. फिक, आर०, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया, कलकत्ता १६२०, पृ० ३०–३१; लिंगात, आर०, कन्ट्रीब्यूशन टू इण्डियन सोशलॉजी, अंक—६०, १६६२, पृ०, ७–१५; ओम प्रकाश, पूर्वोक्त, पृ० ५
६६. भण्डारकर, डी० आर०, सम आस्पेक्ट्स ऑव एन्शिएन्ट हिन्दू पॉलिटी, (द्वितीय सं०), वाराणसी, १६६३, पृ० ११६
६७. शान्ति०, ५६·३३, ७०·१५
६८. तुलनीय, कोसाम्बी, डी० डी०, द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑव एन्शिएन्ट इण्डिया इन हिस्टोरिकल आउट लाइन्स (हि० अनु०) गुणाकर मूले, (द्वि० सं०) नई दिल्ली, १६७७, पृ०, ४१; शुक्ल, बी० सी०, पूर्वोक्त, पृ० ३
६९. ओम प्रकाश, 'कान्सेप्ट ऑव वेलफेयर स्टेट ऐज एप्लिकेबल टू द नोशन ऑव स्टेट इन एन्शिएन्ट इण्डिया' जर्नल ऑव गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, जिल्द–३४, भाग—३–४, इलाहाबाद—१६७८, पृ० १०३
७०. शान्ति०, ७०·८, १३, २२४·२२
७१. वही, ७०·१४; २२४·२४
७२. वही, ५६ १६–२१, १२२·१६–२१

———

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वर्ण-व्यवस्था का उद्भव एवं सैद्धान्तिक स्वरूप

वर्ण-व्यवस्था प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना के एक ऐसे धरातल का बोध कराती है जिसकी सापेक्षता में भारतीय समाज के ऐतिहासिक परिवर्तन सन्दर्भित होते हैं। वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप ही भारतीय समाज हमेशा रहा है,[1] यह मान्यता जितनी गलत है उतनी ही निरर्थक यह मान्यता भी है कि भारतीय सामाजिक संरचना का इतिहास वर्ण-व्यवस्था से भिन्न कुछ और ही रहा है।[2] सामाजिक इतिहास की वर्ण-व्यवस्था के साथ अनुकूलता या प्रतिकूलता वर्ण-व्यवस्था की सापेक्षता में ही उभारी जा सकती है; इसीलिए वर्ण-व्यवस्था प्राचीन भारतीय समाज की ऐतिहासिक प्रतिकृति न होकर सामाजिक मूल्यों के एक ऐसे समाहार के रूप में देखी जा सकती है जो तथ्यों के साथ आदर्श का द्वैत उपस्थित कर ऐतिहासिक विकास को दिशा प्रदान करती है। वर्ण-व्यवस्था के अब तक के होने वाले अध्ययन या तो वर्णनात्मक रहे हैं और या वर्ण-व्यवस्था को ही ऐतिहासिक सामाजिक व्यवस्था मानकर चलने के पूर्वाग्रह से ग्रस्त रहे हैं।[3] प्रस्तुत अध्याय में वर्ण-व्यवस्था का अध्ययन इन दोनों ही दृष्टियों से भिन्न एक ऐसे आदर्श के रूप में किया जायगा जो उसके मूल्यपरक स्वरूप का उद्घाटन करते हुए ऐतिहासिक विकास में उसकी भूमिका को रेखांकित करेगा।

वर्ण-व्यवस्था के उद्भव की जितनी चर्चायें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध होती है, वे सभी पुरावृत्तात्मक हैं। स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य वर्ण-व्यवस्था का ऐतिहासिक उद्भव प्रतिपादित करना नहीं था। उनके आधार पर ऐतिहासिक उद्भव का अनुमान लगाना केवल एक सीमा तक ही उचित कहा जा सकता है। वर्ण-व्यवस्था के उद्भव के पुरावृत्तात्मक वर्णन, यदि उनका उपयोग केवल उसके

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऐतिहासिक उद्भव का अनुमान लगाने के लिए किया जाता है, तो उनके अपने रचनाकारों के लिए वे पूर्णतया अर्थहीन एवं उद्देश्यरहित बन जाते हैं। अतः यदि इन विवरणों के रचनाकारों के उद्देश्य को ध्यान में रखा जाय और उनके अनुसार वर्ण-व्यवस्था के उद्भव और स्वरूप की व्याख्या की जाय तो वर्ण-व्यवस्था को एक मूल्यबोध के रूप में देखना होगा क्योंकि पुरावृत्तात्मक वर्णनों का उद्देश्य परम्परागत मूल्यबोधों को प्रतिष्ठित करना ही होता है। इस दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था का अध्ययन उसके कुछ ऐसे नवीन धरातलों का उद्घाटन करेगा जो अब तक उपेक्षित रहे हैं।

शान्तिपर्व के पुरावृत्तात्मक वृत्तान्त में एक ओर जहाँ मानव-स्वभाव के उत्कर्ष की पराकाष्ठा कृतयुग के वर्णन में देखने को मिलती हैं, वहीं दूसरी ओर अराजकतापूर्ण मात्स्यन्याययुग के रूप में उसके पतन की निम्नतम अवस्था का वर्णन भी प्राप्त होता है। कृतयुग राजा और राज्य तथा दण्ड और दाण्डिक के बिना केवल मानव-स्वभाव की नैसर्गिक शुभता के ही बल पर सुसंचालित वैयक्तिक स्तर का युग है[४] जबकि शान्तिपर्व में प्राप्त मात्स्यन्याययुग के वर्णन उसे किसी आदर्श सामाजिक स्थिति, जिसमें वर्णव्यवस्था और विवाह तथा संपत्ति जैसी संस्थायें वर्तमान थीं, से पतन का युग मानने को बाध्य करते हैं[५] इन दोनों अतिवादों के बीच की कोई कड़ी शान्तिपर्व की सम्पूर्ण विषय-वस्तु में नहीं प्राप्त होती अतः शान्तिपर्व के आधार पर यह जानने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि कब और किन परिस्थितियों में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई, यद्यपि उसकी उत्पत्ति को बताने वाले सभी परम्परागत सिद्धान्त शान्तिपर्व के कलेवर में स्थान-स्थान पर झाँकते हुए दिखाई देते हैं। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, शान्तिपर्व का प्रणयन भारतीय विचारकों के सभी परम्परागत मान्यताओं और विश्वासों को एक सूत्र में पिरोकर संयोजित और संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास का परिणाम है अतएव कृतयुग और मात्स्यन्याययुग के बीच की शान्तिपर्व की लुप्त कड़ी को यदि प्राचीन भारतीय संस्कृति के अन्य स्रोतों में ढूँढ़ने का प्रयास किया जाय तो यह अनुचित न होगा। इस सम्बन्ध मे पुराण हमारी विशेष सहायता करते हैं। मानव-सभ्यता के वैयक्तिक युग से लेकर सामाजिक युग तक के विकास और तत्पश्चात् उसके पतन की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सम्पूर्ण क्रमबद्ध जानकारी हमें पुराणों से प्राप्त होती हैं और चूँकि शान्तिपर्व तथा पुराणों की परम्पराओं का स्रोत एक ही है, अतः पुराणों की इस सामग्री को शान्तिपर्व की विषयवस्तु में समायोजित कर मानव-स्वभाव के विकास की कथा को नैरन्तर्य प्रदान किया जा सकता है और वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति की परिस्थितियों तथा उनके आधार पर उसके वास्तविक सैद्धान्तिक स्वरूप की समीक्षा भी की जा सकती है।

पुराण हमें बताते हैं कि कृतयुग का आत्मनिर्भर युग समाप्त हो जाने के बाद लोग जीविका के संकट से ग्रस्त हो गये। अब उन्हें अपने भोजन की व्यवस्था स्वयं करनी पड़ी अतः वे ब्रह्मा की शरण में गये और उनसे दुखनिवारण की प्रार्थना की।[६] ब्रह्मा ने उनके कष्ट दूर करने के लिए 'वार्ता' दिया जिसके अन्तर्गत अन्न-उत्पादन द्वारा भोजन की व्यवस्था प्रारम्भ हुई।[७] किन्तु 'वार्ता' कोई स्थायी व व्यावहारिक समाधान नहीं बन सका अतः उसे स्थायित्व तथा व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए ब्रह्मा ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था दी[८] और इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का उद्‌भव हुआ जो मौलिक रूप से वार्ता को नियंत्रित और संचालित करने वाली व्यवस्था के रूप में सामने आयी। प्राचीन भारतीय पुरावृत्तों में वर्ण-व्यवस्था इस प्रकार आर्थिक क्रियात्मकता के द्वारा सामाजिक क्रियात्मकता को प्रोत्साहित करने और इस प्रकार निर्मित समाज में एक व्यवस्था स्थापित करने वाली संस्था का रूप धारण करती है और उसका महत्व संस्कृति की समग्रता में उसकी अपनी स्थिति को उभारकर ही ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्राचीनतम जानकारी हमें ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से मिलती है जिसमें एक विराट् पुरुष के मुख, बाहु, उरु तथा चरणों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों की उत्पत्ति बतायी गयी है।[९] विराट् पुरुष से वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त कुछ अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।[१०] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि गायत्री मंत्र के ओ३म्, भूः, भुवः और स्वः से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण उत्पन्न हुए।[११] उपनिषदकाल की ज्ञानमार्गी विचारधारा में विराट् पुरुष का स्थान ब्रह्म ने ले लिया जो उपनिषदों के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण था इसलिए उपनिषदों में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का श्रेय भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ब्रह्म को ही प्रदान किया गया। इस विचारधारा का प्रतिपादन करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि 'प्रारम्भ में ब्रह्म अकेला था फिर उसने अपनी सम्यक् अभिवृद्धि के लिए क्षत्र, विश् और शूद्र वर्ण के देवताओं को अपने से उत्पन्न किया। इन्हीं दैवी वर्णों से कालान्तर में पार्थिव वर्ण निर्मित किये गये।[१२] वर्ण-व्यवस्था को सृष्टि-प्रक्रिया के अन्तर्गत एक स्वाभाविक विकास का रूप देने के लिए सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता के द्वारा उसके उत्पन्न होने की कल्पना परवर्ती साहित्य में भी प्राप्त होती है,[१३] यह अवश्य है कि मान्यताओं के अनुसार सर्वोच्च सत्ता का रूप बदलता रहा। वैदिक कर्मकाण्ड ने यज्ञ को सृष्टि-निर्माण का मूल मानने के कारण[१४] यज्ञ-पुरुष को विराट् पुरुष बनाकर[१५] उससे वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया तो शतपथ ब्राह्मण ने मंत्र का सहारा लेकर इस सिद्धान्त को प्रतीकात्मकता के आवरण से ढँक दिया। इस आवरण के नीचे दोनों एक ही हैं क्योंकि सृष्टि-निर्माण स्वयं एक यज्ञ है[१६] जिसे स्रष्टा यज्ञ के द्वारा ही सम्पन्न करता है।[१७] यज्ञ पुरुष उस यज्ञ का कारण व परिणाम है तथा मंत्र है इस यज्ञ-प्रक्रिया को शाब्दिक अभिव्यक्ति।[१७(क)] उपनिषदों ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्व दिया अतएव बृहदारण्यक उपनिषद ने ऋग्वैदिक विराट् पुरुष को एक अमूर्त्त सत्ता—ब्रह्म के रूप में परिकल्पित किया और उसे ही वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का श्रेय प्रदान किया।[१८] शान्तिपर्व के आस्तिक दृष्टिकोण में ज्ञान एवं कर्म के समन्वय का प्रयास किया गया है। यही कारण है कि जहाँ ऋग्वेद में प्राप्त विराट्-पुरुष शान्तिपर्व में ईश्वर की कल्पना का साकार रूप ग्रहण कर सामने आता है और वैदिक परम्पराओं के अनुसरण में उसी से वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति बतायी गयी है, वहीं दूसरी ओर उपनिषदों के निराकार ब्रह्म की भी सृष्टि के सर्वोच्च सत्ता के रूप में पर्याप्त चर्चा की गयी है और वर्ण-व्यवस्था को उसकी इच्छा का परिणाम बताया गया है। शरशय्या पर शयन करते हुए भीष्म ने श्रीकृष्ण की प्रार्थना करते हुए उन्हीं के मुख, बाहु, उरु तथा चरणों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उद्भूत बताया है।[१९] इसी प्रकार श्रीकृष्ण के स्वरूप का तात्विक विवेचन सुनने के इच्छुक युधिष्ठिर से भीष्म श्रीकृष्ण को 'वेदों में उल्लिखित पुरुष तथा ईश्वर और सबका प्रभु'[२०] मानकर उन्हीं से सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हुआ बताते हैं[२१] और इस क्रम में उनके मुख से सैकड़ों ब्राह्मणों, भुजाओं से सैकड़ों क्षत्रियों, उरुओं से सैकड़ों वैश्यों तथा चरणों से सैकड़ों शूद्रों को उद्भूत मानते हैं।[२२] किन्तु शान्तिपर्व में ही अन्य स्थानों पर श्रीकृष्ण के स्थान पर प्रजापति ब्रह्मा से वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति बतायी गयी है। उदाहरणार्थ, वायु-पुरुरवा-संवाद में वायु कहते हैं कि "नृपश्रेष्ठ! ब्रह्मा जी के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।'[२३] इसी प्रकार भरद्वाज-भृगु संवाद में भी भरद्वाज के पूछने पर भृगु कहते हैं कि 'ब्रह्मा ने ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की रचना की और उन्हें क्रमशः श्वेत, लाल, पीला और काला रंग प्रदान किया।'[२४] जनक और पाराशर की बातचीत में भी पाराशर ने ब्रह्मा के अंगों से ही भिन्न-भिन्न वर्णों की उत्पत्ति बतायी है।[२५] शान्तिपर्व के ये सभी प्रसंग वर्ण-व्यवस्था को ईश्वरप्रदत्त व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करते हैं, यह दूसरी बात है कि यह ईश्वर कहीं ब्रह्मा हैं तो कहीं श्रीकृष्ण। किन्तु इसके साथ ही शान्तिपर्व में एक प्रसंग में वर्ण-व्यवस्था को ब्रह्म से उद्भूत बताने का भी प्रयास किया गया है। याज्ञवल्क्य और विश्वावसु-संवाद में याज्ञवल्क्य ने ब्रह्म के मुख, बाहु, नाभि तथा चरणों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति बतायी है।[२६] शान्तिपर्व के इस प्रसंग में बृहदारण्यक उपनिषद का उपर्युक्त सिद्धान्त ही ध्वनित होता हुआ प्रतीत होता है क्योंकि उसमें भी ब्रह्म से ही वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति प्रतिपादित की गयी है। शान्तिपर्व में प्राप्त वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के ये सभी वर्णन वैदिक परम्पराओं के पुर्नस्थापन के ही प्रयास के रूप में सामने आते हैं। वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का स्रोत, चाहे वह ऋग्वेद का विराट् पुरुष हो, शान्तिपर्व में उल्लिखित श्रीकृष्ण या प्रजापति ब्रह्मा हो या बृहदारण्यक उपनिषद तथा शान्तिपर्व में अन्यत्र उल्लिखित ब्रह्म की कल्पना हो, उसे (वर्ण-व्यवस्था को) सृष्टि-योजना में एक स्वाभाविक विकास के रूप में प्रस्तुत करता है।([२६क]) उसके अलग-अलग अंगों से चारों वर्णों की उत्पत्ति वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के सावयविक सिद्धान्त (Organic Theory) का प्रतिपादन करती है।[२७] मानव शरीर के प्रत्येक अंग अपना अलग-अलग महत्व रखते हैं और उनके पारस्परिक सहयोग से ही शरीर की रक्षा और वृद्धि होती है इसी प्रकार सिद्धान्ततः वर्ण-व्यवस्था के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मौलिक स्वरूप में चारों वर्णों को समान महत्व प्रदान किया गया है[२८] और उनके पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही समाज-पुरुष की रक्षा और उसकी उन्नति की कल्पना की गयी है।[२९] जिस प्रकार शरीर के अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध सहयोग पर आधारित होता है, उसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत चारों वर्णों का आपसी सम्बन्ध भी वैयक्तिक अथवा वर्गगत हित-साधन मात्र न होकर पारस्परिक सहयोग की भावना पर आधारित होता है।[३०] उसे उच्चवर्णों के द्वारा निम्न वर्णों के शोषण मात्र के लिए बनायी गयी संस्था[३१] के रूप में देखना उसके एक सतही मूल्यांकन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं।[३२] वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का स्रोत, विराट् पुरुष हो या श्रीकृष्ण, प्रजापति ब्रह्मा हों अथवा ब्रह्म, सम्पूर्ण ब्रह्मांड का प्रतिनिधित्व करता है अतः उससे उत्पन्न वर्ण-व्यवस्था भी अंश के ऊपर समग्र की प्रतिष्ठा स्थापित करती है।([३२अ]) उसका उद्देश्य एक व्यवस्था प्रदान कर सम्पूर्ण समाज की अभिवृद्धि करना है,([३२ब]) किसी एक या दो वर्णों की ही नहीं।[३३] 'वार्ता' को व्यवहारपरक बनाने एवं नियंत्रित करने वाली संस्था के रूप में उसकी उत्पत्ति उसे प्राथमिक रूप से एक आर्थिक संस्था का रूप भले ही देती हो, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मूलतः वह 'धर्म' है[३४] और उसका स्रोत वही है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि का भी स्रोत है।[३५] अतः कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप से यह कहना अन्याय होगा कि वर्ण-व्यवस्था उच्चवर्णों के हित में और निम्नवर्णों के शोषण के लिए उच्चवर्णों द्वारा 'धर्म' के आवरण में बनायी गयी कोई स्वार्थ-साधन की व्यवस्था थी।

यथार्थ की ठोस भूमि में आदर्श-स्थापन का यह प्रयास अधिक दिनों तक नहीं टिक सका फलस्वरूप कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप विकृत होने लगा[३६] और उसमें एक प्रधान परिवर्तन वर्ण-निर्धारण के आधार में हुआ जो अब 'कर्म' के स्थान पर 'जन्म' होने लगा। आधार के इस परिवर्तन से वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ और उसमें बहुत सी विकृतियाँ आ गयीं। समाज के निम्न वर्ण पर, जो उत्पादक वर्ग भी था, बहुत सी अयोग्यताएँ लाद दी गयीं और उच्च-वर्णं के लोगों ने अपने लिए अनेक विशेषाधिकार सुरक्षित कर लिये।[३७] वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप में कालान्तर में होने वाली इस विकृति के ही आधार पर बहुत से विद्वानों ने इसे उच्च वर्णों द्वारा निम्न वर्णों के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शोषण की संस्था का रूप दिया है। किन्तु उल्लेखनीय है कि वर्ण-व्यवस्था का यह स्वरूप उसका मौलिक स्वरूप नहीं था, यह तो कालान्तर में उसमें उत्पन्न हो जाने वाली विकृतियों के परिणाम-स्वरूप परिवर्तित उसका परवर्तीस्वरूप था[३८] जिसके लिए बहुत से कारण उत्तरदायी हो सकते हैं किन्तु निश्चित रूप से प्रमुख कारण वर्ण-निर्धारण का आधार 'कर्म' के स्थान पर जन्म का हो जाना था।

वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप में होने वाले इस विकृत परिवर्तन को दूर करने के लिए उपनिषदों ने ज्ञानमार्ग का अवलम्बन किया और किसी वर्णविशेष में व्यक्ति के उत्पन्न होने का कारण उसके पूर्वजन्म के कर्मों को ठहराया गया। छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद ने उद्घोषित किया कि किसी वर्ण में उत्पन्न होना व्यक्ति के पूर्वजन्म में किए गये कर्मों पर निर्भर करता है। कर्म जितने अच्छे होंगे जन्म भी उतने ही ऊँचे वर्ण में होगा।[३९] इस प्रकार कर्म तथा पुर्नजन्म और वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध स्थापित हुआ जो कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था का अभिन्न अंग बन गया।[४०] छान्दोग्य उपनिषद का यह सिद्धान्त सांख्य के सिद्धान्त से समन्वित होकर सर्वप्रथम गीता म प्रस्फुटित हुआ जिसमें श्रीकृष्ण ने घोषणा की कि 'चारो वर्ण मेरे द्वारा ही गुण और कर्म के विभाजन के अनुसार बनाये गये हैं।'[४१]

इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था को उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी पूर्वगामी दैवी सिद्धान्त को मान्यता देते हुए भी उसमें गुण और कर्म को प्रधानता दी गयी और प्रकारान्तर से वर्णनिर्धारण के लिए कर्म को ही पुनः आधार बनाये जाने का प्रयास किया गया। इसी सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि बौद्ध तथा जैन धर्मों ने भी जन्म को वर्ण-निर्धारण का आधार बनाये जाने का विरोध किया।[४२] वर्ण-व्यवस्था से उनका विशेष विरोध नहीं था[४३] जैसा कि आम तौर पर समझा जाता है। गुण और कर्म के आधार पर वर्ण-निर्धारण के वे पक्षपाती थे। एक बौद्ध ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है कि 'जन्म से कोई ब्राह्मण और वृषल नहीं होता बल्कि कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण या वृषल होता है'।[४४] यद्यपि ऐतिहासिक प्रयोग में 'वृषल' शब्द काफी बाद में शूद्र शब्द का पर्यायवाची बना[४५] किन्तु इसमें संदेह नहीं कि ब्राह्मण के विलोमार्थक के रूप में उपर्युक्त कथन में 'वृषल' शब्द निम्न वर्ण से सम्बन्ध रखने वाले

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया गया है। इसी प्रकार जैन स्रोतों में भी वर्ण-निर्धारण के लिए गुण-कर्म को ही आधार मानने पर बल दिया गया है।[४६] जन्म के स्थान पर गुण-कर्म को वर्णनिर्धारण का आधार बनाये जाने के लिए किए गए ये सभी प्रयास वस्तुतः व्यावहारिक धरातल पर आदर्श-भ्रष्ट वर्ण-व्यवस्था को पुनः उसी आदर्श स्थिति में लाने के प्रयास थे और न केवल शान्तिपर्व अपितु सम्पूर्ण महाभारत में स्थान-स्थान पर दिखायी पड़ते हैं। भीष्मपर्व में वर्ण-विभाजन का आधार गुण-कर्म ही बताया गया है।[४७] शान्तिपर्व में भी अनेक प्रसंग गुण-कर्म को ही वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार बताते हुए प्राप्त होते हैं। युधिष्ठिर-भीष्म संवाद में भीष्म स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'प्रारम्भ में कोई वर्ण नहीं था और ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण सभी ब्राह्मण ही थे जो कालान्तर में स्वभाव की भिन्नता और व्यवसायों की विविधता के कारण अलग-अलग वर्णों में बँट गए।[४८] जो ब्राह्मण अपने धर्म का परित्याग कर विषयभोग के प्रेमी, तीखे स्वभाव वाले, क्रोधी और साहस का काम पसन्द करने वाले हो गये और इन्हीं कारणों से उनका रंग लाल हो गया वे क्षत्रिय-भाव को प्राप्त हुए अर्थात् क्षत्रिय हो गये। जिन्होंने गौ तथा कृषिकर्म के द्वारा जीविका चलाने की वृत्ति अपना ली और उसी के कारण जिनके रंग पीले हो गए तथा जो ब्राह्मणोचित धर्म को छोड़ बैठे, वे ब्राह्मण वैश्य-भाव को प्राप्त हुए। जो शौच और सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के प्रेमी हो गये, लोभवश व्याधों के समान सभी तरह के निन्द्य कर्म करके जीविका चलाने लगे और इसीलिए जिनके शरीर का रंग काला पड़ गया, वे ब्राह्मण शूद्रभाव को प्राप्त हो गये। इन्हीं कर्मों के कारण ब्राह्मणत्व से अलग होकर वे सभी ब्राह्मण दूसरे-दूसरे वर्ण के हो गये।'[४९] उल्लेखनीय है कि गुण-कर्म को वर्ण-निर्धारण का आधार बनाते हुए पूर्वजन्म के कर्मों के साथ-ही-साथ वर्तमान जन्म के कर्मों को भी समाविष्ट कर लिया गया है। 'गुण' जहाँ पूर्वजन्म में किए हुए कर्मों के अनुसार बने हुए संस्कार हैं,[४९] 'कर्म' वर्तमान जन्म में उन संस्कारों के द्वारा प्रेरित व्यक्ति की प्रवृत्तियों की व्यवहारिक अभिव्यक्ति है।[५०] यहीं कारण है कि शान्तिपर्व में स्थान-स्थान पर यह कहा गया है कि जन्मना ब्राह्मण होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति अपने ब्राह्मणोचित कर्तव्यों का पालन नहीं करता तो वह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रह जाता, उसे शूद्र समझना चाहिये'[५१] इसके विपरीत यदि कोई शूद्र अपने वर्ण धर्म का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करता है तो वह शूद्र नहीं रह जाता[५२] और अपेक्षाकृत अधिक सम्मान का अधिकारी हो जाता है। गुण-कर्म के आधार पर वर्ण-निर्धारण का प्रयास शान्तिपर्व की सम्पूर्ण विषयवस्तु में स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि आदर्श-स्थापन का यह प्रयास शान्तिपर्व के रचनाकाल में पूरी तरह फलीभूत नहीं हो सका और यद्यपि उच्चगुणों से युक्त समाज के निम्नवर्णीय सदस्यों को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान देने का प्रयास किया गया है,[५३] तथापि वर्ण-निर्धारण का आधार जन्म से पुनः कर्म करने के प्रयास में शान्तिपर्व के विचारक असफल ही रहे हैं और क्षत्रियोचित कर्म करने के बावजूद द्रोण, कृप, अश्वत्थामा और परशुराम ब्राह्मण ही रहे हैं और कर्ण सूतपुत्र तथा एकलव्य निषाद ही रहे हैं।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों की उपर्युक्त समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण-व्यवस्था प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य में सृष्टि-योजना से अभिन्न रूप से सम्बन्धित एवं उसके अन्तर्गत एक स्वाभाविक विकास के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली संस्था का रूप ग्रहण कर सामने आती है।[५४] प्राचीन परम्पराओं के निर्वाहक के रूप में शान्तिपर्व ने भी वर्ण-व्यवस्था को इसी रूप में स्वीकार किया है,[५५] साथ-ही-साथ प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं और मूल्यों के एक सचेष्ट प्रहरी की भूमिका निभाते हुए उनके प्रति वर्ण-व्यवस्था की प्रतिबद्धता को और भी सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया है। शान्तिपर्व की सम्पूर्ण विषयवस्तु में ऐसे प्रसंग बहुतायत से प्राप्त होते हैं जिनमें वर्ण-व्यवस्था का महत्व तथा अपने वर्णधर्म का पालन करने के लिए लोगों को प्रेरित करने वाले वक्तव्यों का प्रधानता है। वर्ण-व्यवस्था को सामाजिक हित का एक उपकरण मानने के कारण शान्तिपर्व ने वर्णधर्म के पालन का प्रश्न व्यक्ति की इच्छा अथवा विवेक का विषय मानकर ही नहीं छोड़ दिया है बल्कि वर्णधर्म का पालन करवाने के लिए दण्ड की सहायता लेने से भी शान्तिपर्वकार कहीं नहीं हिचका है।[५६] राजधर्मानुशासनपर्व के अन्तर्गत राजा के कर्तव्यों की गणना करते हुए उसका प्रमुख कर्तव्य समाज में वर्ण-व्यवस्था को बनाये रखना बताया गया है;[५७] इसके

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साथ ही तरह-तरह की कथाओं और आख्यानों की सहायता से शान्ति-पर्वकार ने व्यक्ति की विवेक-बुद्धि को प्रभावित कर वर्णधर्मपालन को प्रत्येक के लिए, अनिवार्य रूप से, एक अन्तःस्थ कर्तव्य का रूप देने का भी प्रयास किया है।[58]

शान्तिपर्व में प्राप्त वर्ण-व्यवस्था की स्थापना और वर्णधर्म के पालन पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाना इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि सम्भवतः शान्तिपर्व का रचनाकाल वर्ण-व्यवस्था के अस्तित्व-संकट का काल था।[59] ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यों का अवलोकन करने पर इस अनुमान को विशेष क्षति नहीं पहुँचती और शान्तिपर्व को उसकी समग्रता में देखने पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं प्रतीत होता कि शान्तिपर्व सम्भवतः एक ऐसे संक्रमण काल की रचना है जबकि सभी परम्परागत मूल्यों और विश्वासों की जड़ें विदेशी आक्रमणों,[60] इतरवैदिक धर्मों—विशेषकर बौद्ध तथा जैन—के बढ़ते हुए प्रभावों,[61] समाज में अपनी स्थिति से असन्तुष्ट निम्न वर्णों के लोगों के विरोध[62] और इसके साथ-ही-साथ दो उच्चतम वर्णों—ब्राह्मण और क्षत्रिय—के पारस्परिक मतभेदों[63] के कारण हिलने लगी थीं। इस समय आवश्यकता इस बात की थी कि जिन कारणों से यह स्थिति उत्पन्न हुई थी उन्हें दूर कर पुराने मूल्यों और विश्वासों को बदली हुई परिस्थितियों के साथ सन्दर्भित कर एक नये आवरण में प्रस्तुत किया जाय। शान्तिपर्व का प्रणयन इसी आवश्यकता का परिणाम था जिसके माध्यम से सांस्कृतिक समग्रता को क्षति पहुँचाये बिना प्राचीन परम्पराओं को ही, आवश्यकतानुसार नये तत्वों के समायोजन से पुष्ट कर, पुनर्प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गयी।[64] यही कारण है कि शान्तिपर्व में जहाँ कुछ परम्परायें अपने प्राचीनतम रूप में देखने को मिलती हैं वहीं कुछ का परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप भी हमारे सामने आता है[65] और यह विरोधाभास निश्चित रूप से उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है।

शान्तिपर्व में वर्ण-व्यवस्था 'व्यक्ति' को 'मनुष्य' के रूप में सामाजिक प्राणी बनाने की एक व्यवस्था के रूप में सामने आती है। शान्तिपर्व के 'व्यक्ति' का सामाजिक व्यक्तित्व उसकी (शान्तिपर्व की) वर्ण-व्यवस्था की योजना में ही पूरी तरह अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उद्देश्य तथा स्थापना की मान्यताओं के विषय में शान्तिपर्व किसी नवीनता का परिचय नहीं देता।[६६] वह तो प्राचीन परम्पराओं के निर्वाहक के रूप में मानव मात्र की मौलिक एकता में अपनी आस्था के बावजूद व्यक्तियों की प्रवृत्तियों और संस्कारों में भिन्नता के कारण उन्हें भिन्न-भिन्न व्यवसायों में नियुक्त कर प्रत्येक के लिए अलग-अलग वर्ण निर्धारित कर देता है।[६७] प्रत्येक वर्ण के सदस्यों के लिए पालनीय कर्तव्यों अथवा वर्णगत धर्मों की लम्बी तालिका शान्तिपर्व में कई स्थानों पर प्राप्त होती है[६८] और उन सभी में लगभग पूरी तरह से उन्हीं-उन्हीं धर्मों अथवा कर्तव्यों की गणना की गयी है जो परम्परागत रूप से प्रत्येक वर्ण के साथ जोड़ दिये गए थे।[६९] मूलतः कर्म-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित वर्ण-निर्धारण[७०] शान्तिपर्व के काल तक आते-आते यद्यपि जन्म पर आधारित हो गया था[७१] किन्तु इसके साथ-ही-साथ 'अपने वर्ण के लिए निर्धारित किए गए व्यवसायों के ही चयन' का सिद्धान्त अपनी दृढ़ता खोने लगा था। महाभारत के बहुत से प्रमुख पात्र अपने वर्ण के विपरीत कर्मों को करते हुए दिखाये गये हैं जिनमें एक ओर यदि द्रोण, कृप, अश्वत्थामा और परशुराम जैसे शस्त्रोपजीवी ब्राह्मण हैं तो दूसरी और सूतपुत्र कर्ण तथा विदुर जैसे व्यक्ति भी हैं जो क्रमशः क्षत्रिय और ब्राह्मण का कार्य करते हैं। भीष्म तथा जनक क्षत्रिय होते हुए भी किसी भी ब्राह्मण से अधिक ज्ञानी तथा महान दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। जन्म से लेकर जीवन के पूर्वार्द्ध तक क्षत्रिय और शासक की भूमिका का निर्वाह करने वाले विश्वामित्र जीवन के उत्तरार्द्ध में 'ब्रह्मर्षि' हो जाते हैं। स्वयं महाभारत के प्रणयनकर्त्ता व्यास पाराशर ऋषि के द्वारा उत्पन्न मल्लाह स्त्री के पुत्र के रूप में सामने आते हैं तथा उनके द्वारा नियोग प्रथा के अन्तर्गत क्षत्रिय राजकुमारियों से उत्पन्न धृतराष्ट्र तथा पाण्डु शासक अर्थात् क्षत्रिय वर्ण के सदस्य के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। उल्लेखनीय है कि अपने वर्ण के विपरीत व्यवसाय चयन का यह सिद्धान्त जहाँ द्विजों के विषय में विशेष महत्वपूर्ण नहीं प्रतीत होता,[७२] वहीं कतिपय शूद्रों के विषय में उसकी महत्ता विशेष रूप से बढ़ जाती है। महाभारत की सम्पूर्ण विषयवस्तु में ऐसे कई शूद्रों के विषय में ज्ञात होता है जिन्होंने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में अपनी स्थिति के प्रति असन्तुष्ट होकर द्विजों के व्यवसाय को ग्रहण

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किया था जिससे तत्कालीन व्यवस्था के प्रति उनके असन्तोष और कहीं-कहीं तो विरोध का स्वर भी मुखरित होता है।[७३] रामायण के एक पात्र शम्बूक की कथा का उल्लेख शान्तिपर्व भी करता है जिसने शूद्र होने के बावजूद वेदाध्ययन और तप किया था और उसके इस अपराध के दण्डस्वरूप राम ने उसका वध कर दिया।[७४] एकलव्य भील होते हुए भी धनुर्विद्या में पारंगत हो गया था यद्यपि तत्कालीन समाज ने उसे इसका अधिकार नहीं दिया था[७५] और इसके दण्डस्वरूप उसे अपने दाहिने हाथ का अँगूठा कटवाना पड़ा, भले ही गुरुदक्षिणा के शिष्ट बहाने से ही।[७६] सूतपुत्र होने के कारण शस्त्रास्त्र विद्या प्राप्त करने के अभिलाषी कर्ण को द्रोण से अपमानित होना पड़ा[७७] और इसके बाद भी छलपूर्वक परशुराम से यह विद्या सीख लेने के बाद अन्त में भेद खुल जाने पर परशुराम से उसे ब्रह्मास्त्र चलाने की विद्या भूल जाने का शाप ही मिला।[७८] इस प्रकार न केवल शान्तिपर्व अपितु सम्पूर्ण महाभारत में इस तरह के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनसे इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि यद्यपि अपने वर्ण के लिए निर्धारित किये गए कर्तव्यों का पालन शान्तिपर्वकालीन समाज में एक सामान्य बात थी और समाज के अधिकांश सदस्यों ने इसे अनिवार्य कर्तव्य के रूप में ग्रहण भी किया था[७९] तथापि वर्णभेद की यह योजना समाज में पूरी तरह अन्तर्तस्थ नहीं हो सकी थी और विशेषकर समाज का शूद्रवर्ण इसके विरोध में उठ खड़ा होने लगा था, यद्यपि उनका यह विरोध, यदि कभी अधिक सक्रिय हुआ भी तो, सफल नहीं हो सका और प्रायः हर बार द्विजों के छल-बल-कौशल से दबा दिया गया।

समाज में धर्म और न्याय की स्थापना के लिए समाज के सदस्यों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की भूमिका कितनी अहम् होती है इसे शान्तिपर्व के विचारकों ने पूरी तरह समझा है और गीता के मंत्र वाक्य 'योगः कर्मसु कौशलम्'[८०] का समर्थन कर प्रत्येक वर्ण के सदस्यों को पूरी निष्ठा के साथ अपने वर्ण-धर्म का पालन करने के लिए प्रेरित करने का प्रयास किया है।[८१] 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' का उद्घोष करके शान्तिपर्वकार ने प्राणों की कीमत पर भी अपने वर्ण-धर्म का पालन करने की मानसिकता को बढ़ावा दिया है।[८२] आपद्धर्म की विशेष परिस्थितियों को छोड़कर सामान्य स्थिति में किसी भी तरह वर्ण-धर्म उल्लंघनीय नहीं है। पूरी निष्ठा के साथ वर्ण-धर्म-पालन को शान्तिपर्व

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ने जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के रूप में प्रस्तुत किया है और स्थान-स्थान पर इस बात की घोषणा की है कि कर्तव्यभाव से अपने वर्णधर्म का पालन ही व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्ति का सहज साधन है।[८३] वर्ण-व्यवस्था इस प्रकार जहाँ एक ओर व्यक्ति में सामाजिकता का पूर्ण विकास कर उसे 'मनुष्य' बनाती है वहीं दूसरी ओर 'मनुष्य' की वैयक्तिकता को भी अपने विकास की चरम सीमा तक ले जाती है।[८४] शान्तिपर्व यदि वर्ण-व्यवस्था के प्रति विशेष आग्रहशील है तो उसका एक प्रमुख कारण यह है कि प्राचीन परम्पराओं में आस्था रखने के कारण वह इस व्यवस्था को सिद्धान्त के रूप में न ग्रहण कर एक सांस्कृतिक तत्त्व के रूप में ग्रहण करता है अन्यथा वर्ण-व्यवस्था के साथ-ही-साथ उसके विकल्प के रूप में वह कुछ अन्य सामाजिक सिद्धान्तों से भी अपने परिचय का आभास अवश्य देता, जैसा कि सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त प्रस्तुत करने वाली विश्व की बहुत सारी सभ्यताओं ने किया है[८५] किन्तु प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास का अवलोकन करने पर हमें सामाजिक व्यवस्था के किसी भी ऐसे सिद्धान्त के विषय में जानकारी नहीं मिलती जिसे वर्ण-व्यवस्था के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। विश्व-इतिहास के अध्ययन से इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि विश्व में प्रत्येक धर्म के अभ्युदय के साथ उस धर्म के विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये। इस्लाम-धर्म के उदय से मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था,[८६] ईसाई धर्म के उदय के साथ क्रिस्तानी सामाजिक व्यवस्था यहाँ तक कि प्रोटेस्टैन्ट और कैथोलिक धर्मों तक ने सामाजिक व्यवस्था का अपना-अपना अलग-अलग सिद्धान्त प्रस्तुत किया किन्तु भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह तथ्य एक अपवाद ही प्रतीत होता है। किसी भी भारतीय धर्म ने वर्ण-व्यवस्था के विकल्प के रूप में सामाजिक व्यवस्था के किसी भी अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया; यद्यपि बौद्ध, जैन, वैष्णव और शैव धर्मों ने अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुरूप अपने-अपने समाजों का निर्माण अवश्य किया था किन्तु उनके द्वारा निर्मित ये धार्मिक समाज लौकिक समाज के स्थानापन्न नहीं थे। उनके समाज तो इस लौकिक समाज की सीमा से परे वे धार्मिक समाज थे जिनका प्रारम्भ वहाँ से होता था जहाँ यह लौकिक समाज समाप्त होता था। प्राचीन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परम्परा में वर्ण-व्यवस्था इस प्रकार सामाजिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टिकोणों से 'सिद्धान्त' की संकुचित परिधि को तोड़कर एक सांस्कृतिक तत्व के अपेक्षाकृत अधिक व्यापक कलेवर में उभर कर सामने आती है।[८७] 'धर्म' के सुप्रतिष्ठित स्वरूप में यह सांस्कृतिक तत्व केवल समाज के निम्नवर्णीय सदस्यों को (आर्थिक संसाधनों के द्वारा उत्पादन में वृद्धि के दृष्टिकोण से) ही नहीं नियंत्रित करता बल्कि समाज का उच्चतम वर्ण—ब्राह्मण—भी उससे उतनी ही दृढ़ता के साथ बँधा हुआ है।[८८] शान्तिपर्व का समाज यदि शूद्र को वर्णधर्म का उल्लंघन करने के लिए अपराधी ठहराता है तो यह अपराध करने पर ब्राह्मण को भी दोषमुक्त नहीं मानता।[८९] शान्तिपर्व की स्पष्ट मान्यता है कि समाज का निम्नवर्णीय किन्तु कर्तव्यनिष्ठ सदस्य कर्तव्यरहित उच्चवर्णीय ब्राह्मण से अधिक सम्मान का अधिकारी है और अनेक आख्यानों और कथाओं के माध्यम से शान्तिपर्व ने अपनी इस मान्यता को और भी बल प्रदान किया है।[९०] वर्ण-व्यवस्था, इस प्रकार, सैद्धान्तिक रूप से शान्तिपर्व में समाज के उच्चवर्ण के सदस्यों द्वारा निम्नवर्ण के सदस्यों के शोषण के लिए बनायी गयी और इसलिए उन पर लादी गयी कोई बाह्य व्यवस्था नहीं थी[९१] (यद्यपि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि व्यवहारिक धरातल पर इसका दुरुपयोग हमेशा ही होता रहा)। यह तो समष्टिगत शुभ की आकांक्षा से व्यष्टिगत शुभ की एक सामूहिक अभिव्यक्ति है जो 'आत्मवत् सर्व-भूतेषु' की आंतरिक प्रेरणा से एक व्यवस्था का रूप ग्रहण करती है।[९२] इस व्यवस्था का अवलोकन किसी पूर्वनिर्धारित योजना के रूप में न कर रीति-रिवाजों की तरह ऐतिहासिक नैरन्तर्य से धीरे-धीरे रूप ग्रहण करने वाली योजना के रूप में करना अधिक समीचीन होगा।[९३] इस व्यवस्था के अनुसार समाज का हर सदस्य अपने-अपने कर्तव्यों का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करता हुआ अपने साथ-ही-साथ समाज के अन्य सदस्यों को भी अपने उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग में आगे बढ़ने की सुविधा प्रदान करता है।[९४] कृतयुग की कल्पना तथा एक ही सत्ता से सभी को उद्भूत मानकर व्यक्ति की मौलिक एकता[९५] में विश्वास करने के कारण शान्तिपर्व समाज के सभी सदस्यों के लिए समान रूप से अपने-अपने वर्णधर्म का पालन करने के लिए प्रेरित करता है और किसी को भी वर्णधर्म का उल्लंघन करने की छूट नहीं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

देता। द्विजों के व्यवसाय को ग्रहण करने वाले शान्तिपर्व के शूद्रों को मिला दण्ड भी शायद उनके द्वारा अपने वर्णधर्म का उल्लंघन करने के लिए अधिक था, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय के धर्मों को अपनाने के कारण कम।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. इस मान्यता का परिचय राधा कुमुद मुकर्जी की हिन्दू सिविलिजेशन, (हि० अनु०) वासुदेव शरण अग्रवाल, (पंचम सं०) दिल्ली, १९७५ तथा तथा ए० एल० बाशम की वन्डर दैट वाज इन्डिया (हि० अनु०) (तृ० सं०) दिल्ली, १९७८ जैसी कृतियों में प्राप्त होती है। देवहूति द्वारा संपादित वायस ऑव इन्डियन हिस्टोरियोग्राफी, दिल्ली, १९८० में प्रकाशित ओम प्रकाश के लेख 'मेन्टेलिटी ऑव इन्डियन कल्चर, के पृ० ६४ पर भी इस आशय के तथ्य प्राप्त होते हैं।

२. इसके लिए देखिये जर्नल ऑव अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, १९५५, तथा जर्नल ऑव द बाम्बे ब्राँच ऑव द रायल एशियाटिक सोसायटी में प्रकाशित डी० डी० कोसम्बी के दो लेख।

३. प्रथम श्रेणी की कृतियों में यदि पी० वी० काणे की हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, तथा राधा कुमुद मुकर्जी और ए० एल० बाशम की कृतियों को रखा जा सकता है तो दूसरी श्रेणी में कोसम्बी की विचार-धारा को आगे बढ़ाने वालों—आर० एस० शर्मा, रोमिला थापर और सुवीरा जायसवाल जैसे लोगों की कृतियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

४. शान्तिपर्व, ५९.१४; ७०.८–१३

५. शान्तिपर्व, ६७.१७; १२२.१९-२१.

६. मार्कण्डेय पुराण, ४६.६३ तथा आगे; वायु पुराण, १.८.१३४–१३९; ब्रह्मांड पुराण, १०७.१३८–१३९.

७. ओम प्रकाश, पोलिटिकल आइडियाज इन द पुराण, इलाहाबाद, १९७८, पृ० ४०,

८. वायुपुराण, १.८. १४१, १५३-१५४, १५९; ब्रह्मांड पुराण, १.७: १४१-४२, १५१ तथा आगे।

९. ऋग्वेद, १०.९०.१२।

१०. अथर्ववेद, १९.६.६; वाजसनेयि संहिता, ३१.११; तैत्तिरी य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आरण्यक, ३.१२; द कांसेप्ट ऑव मैन, (सं०) एस. राधाकृष्णन तथा पी. टी. राजू, पृ० २१३,

११. शतपथ ब्राह्मण, ५.४.६६.

१२. बृहदारण्यक उपनिषद, १.४.११-१५; रानाडे, आर० डी०, ए कान्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासफी, पूना १९३३, पृ० ६०.

१३. मनुस्मृति, १.३१, ८७; विष्णु पुराण, १.६.६; वायु पुराण, ९.१८३; यद्यपि पुराणों में क्षत्रिय की उत्पत्ति भुजा से न मानकर वक्षस्थल से मानी गयी है।

१४. बार्थ, ए., रिलिजन्स ऑव इण्डिया, लंदन, १८८२, पृ० ३७७; पाण्डेय, राजबली, भारतीय नीति का विकास, पृ० ४०; रेनो, लुई, (सं०) हिन्दूइज्म, न्यूयार्क, १९६१, पृ० २३.

१५. ऋग्वेद के दशम् मण्डल में प्राप्त पुरुषसूक्त में यह प्रयास अपने स्पष्टतम स्वरूप में दिखायी देता है।

१६. पाण्डेय, राजबली, वही, पृ० ४५; विलियम्स, एम., रिलिजस थॉट एण्ड लाइफ इन एन्शिएन्ट इन्डिया (पुनर्मुद्रित) कलकत्ता, १९७८, पृ० २२-२३,

१७. 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' ऋग्वेद, १०.९०; बाशम, ए. एल. पूर्वोक्त, पृ० २०२; कीथ, ए. बी., रिलिजन एण्ड फिलासफी ऑव द वेद एण्ड उपनिषद, पृ० २४९; एग्युलर, एच., द सैक्रीफाइज इन द ऋग्वेद, वाराणसी, १९६७, पृ० ६७-६८

(१७क) पनिक्कर, आर., मन्त्रमञ्जरी, लंदन, १९७७, पृ० ९३-९४.

१८. बृहदारण्यक उपनिषद, १.४.११-१५; रानाडे, आर. डी., उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, (हिं० अनु०) जयपुर, १९७१, पृ० ४५-४६.

१९. शान्तिपर्व, ४७.४३

२०. वही, २००.५

२१. वही, २००.११-१२

२२. वही, २००. ३१-३२.

२३. वही, ७१.४-५.

२४. वही, १८१.४-५

२५. वही, २८५.५-६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

२६. वही, ३०६.८७
(२६क) विलियम्स, एम., पूर्वोद्धृत पृ० ४७३.
२७. पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ० ४२.
२८. वोरा, डी. पी., इवोल्यूशन ऑव मॉरल्स इन द इपिक्स, बम्बई, १९६६, पृ० १२५.
२९. पाण्डेय, राजबली, वही पृ० १२४
३०. वही, पृ० १२५; सिंह, रणजीत, धर्म की हिन्दू अवधारणा, इलाहाबाद, १९७७, पृ० ११७.
३१. अर्थशास्त्र (सं०) आर. पी. कांगले, बम्बई, १९६५, पृ०, १८८ पर उद्धृत आई. पी. वैकोव का मत देखिए जिसके अनुसार वर्ण-व्यवस्था एक सामन्ती व्यवस्था थी जिसके अन्तंगत दोनों उच्चवर्णों द्वारा दोनों निम्नवर्णों के सदस्यों का शोषण किया जाता था।

ब्राह्मण ग्रन्थों में वैश्य के लिए 'अन्यस्य आद्यः' तथा शूद्र के लिए 'यथाकाम वध्यः', 'यथाकामोत्थापयः' आदि प्रयोगों के द्वारा भी वर्ण-व्यवस्था में शोषण के तत्व को अनुमानित किया जाता है।
कोसम्बी, डी. डी., एनाल्स ऑव भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द-३१, पूना, १९५०, पृ० २६३, तथा द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑव इण्डिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन्स (हि० अनु०) गुणाकर मूले, (द्वि० सं०), दिल्ली, १९७७, पृ० ११०, राव, एम. वी. के, स्टडीज इन कौटिल्य, (तृ० सं०) दिल्ली, १९७९, पृ० ४१.

३२. तुलनीय, विलियम्स, एम., पूर्वोद्धृत, पृ० ४७३;
(३२अ) रेनों, लुई (सं०) हिन्दूइज्म, न्यूयार्क, १९६१, पृ० १८
(३२क) थापर, रोमिला का लेख, इन्डियन सोसाइटी : हिस्टारिकल प्रोबिंग्स, दिल्ली, १९७४, पृ० ९८,
३३. यद्यपि व्यवहार में इसके विपरीत ही होता रहा और वर्ण-व्यवस्था उच्च दो वर्णों के विशेषाधिकारों की व्यवस्था बन गयी किन्तु यह स्थिति वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप में कालान्तर में होने वाले परिवर्तनों का परिणाम थी। वर्ण-व्यवस्था के मौलिक स्वरूप में सिद्धान्ततः इस तरह का कोई तत्व नहीं था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

३४. यही कारण है कि भारतीय साहित्य में प्राण की कीमत पर भी वर्ण-व्यवस्था के पालन पर जोर दिया गया है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' का 'स्वधर्म' 'वर्णधर्म' के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्राचीन भारतीय पुरावृत्तों और साहित्य में वर्ण-व्यवस्था की धर्मपरकता सिद्ध करने वाले आख्यानों की भरमार है। उदा० महाभारत वनपर्व, २१२.१७.१८; गीता ३.३५, १८.४७; मनुस्मृति १६.६७; काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द-२ भाग १, पृ० ७; रेनो, लुई, पूर्वोद्‌धृत, पृ० १८; राधाकृष्णन, एस; द स्पिरिट ऑव रिलिजन, दिल्ली, १६७८, पृ० १६-२०; मोरगन, के. डब्ल्यू द्वारा संपादित द रिलिजन ऑव द हिन्दूज में आर. एन. दाण्डेकर का लेख 'द रोल ऑव मैन इन हिन्दूइज्म' पृ० १३४.।

३५. ऋग्वेद में यह मूल स्रोत विराट पुरुष हैं तो उपनिषदों में ब्रह्म और महाभारत में ईश्वर। सृष्टि के मूल स्रोत में समयानुसार होने वाले परिवर्तनों के साथ ही वर्ण-व्यवस्था का स्रोत भी बदलता रहा जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है।

३६. यह विकृत स्वरूप ही कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप की भ्रान्ति देने लगा और वर्ण-व्यवस्था की जितनी भी आलोचना की जाती है उसका कारण विचारकों का वर्ण-व्यवस्था के इस परवर्ती स्वरूप को ही उसका मौलिक स्वरूप मान लेना है।

३७. तुलनीय, झा, डी० एन०, प्राचीन भारत—एक रूप रेखा (हि० अनु०) दिल्ली, १६८०, पृ० २८

३८. सिनहा, ए० के० 'हाइरार्की एण्ड इथिकल थियरी इन एन्शिएन्ट इण्डिया' प्रोसीडिंग्स ऑव द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, ४०वां अधिवेशन, वाल्टेयर, १६७६, पृ० ५६

३६. छान्दोग्य उपनिषद, ५.१०.७; बृहदारण्यक उपनिषद, ४.४.२-५; प्रभु, पी० एच., हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, (तृतीय सं०), १६५८, पृ०, १६, २६२–२६३; राना डे, पूर्वोद्‌धृत, पृ० १५५.

४०. सिंह, रणजीत, पूर्वोद्‌धृत, पृ० ६६,

४१. गीता, ४.१३;

पी० एच० प्रभु का विचार है कि गीता में उल्लिखित 'गुण' शब्द मनो–

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वैज्ञानिक प्रवृत्तियों के समवाय के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसके अन्तर्गत मनुष्य की प्रवृत्तियाँ, स्वभाव, झुकाव और अन्त: प्रेरणायें सभी सम्मिलित हैं। इन्हीं के आधार पर क्रियाओं एवं व्यवसायों का वर्गीकरण किया गया जो सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा और विकास के लिए आवश्यक था।

प्रभु, पी० एच०, पूर्वोद्धृत, पृ० ३१६.

मीज के अनुसार शुद्ध वर्ण का आदर्श गीता में ही प्रस्तुत किया गया है।

मीज, जी. एच., धर्म एण्ड सोसाइटी, लन्दन, १९६३, पृ० ७२

४२. सिंह, एम० एम०, बुद्धकालीन समाज और धर्म, पटना, १९७२, पृ० ८, १५;

४३. रिज डेविड्स, टी० डब्लू०, बुद्धिस्ट इण्डिया, लंदन, १९०३ पृ० ५४; जैनी, पद्मनाभ एस., द जैन पाथ ऑव प्योरीफिकेशन, दिल्ली १९७९ पृ० २८८–२८९।

४४. सुत्त निपात, ५.१३८–१४२; बोस०, ए. एन, सोशल एण्ड रूरल इकॉनमी ऑव नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, १९६७, पृ० २५५

४५. द्रष्टव्य, सिनहा, ए. के., चेंजिंग डिनोटेशन्स ऑव द टर्म 'वृषल'—ए केस स्टडी इन द डाउनवर्ड सोशल मोबिलिटी, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के ४१वें अधिवेशन में बम्बई, १९८० में पढ़ा गया लेख।

४६. आदि पुराण, ३८.४५,

४७. भीष्म पर्व, ४२.४१

४८. शान्तिपर्व, ७७.२–६; १८१·१०;

४९. शान्तिपर्व, १८१.११.१४

(४९क) तुलनीय वोरा, डी. पी., पूर्वोद्धृत, पृ० १४७.

५०. ब्लूमफील्ड, एम., द रिलिजन ऑव द वेद, दिल्ली, १९७२, पृ० २५९

५१. शान्ति०, ७७.६–७; पाराशर स्मृति १२.२९

५२ शान्ति०, १८२.८

५३ तुलाधार, धर्मव्याध और विदुर जैसे लोगों के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं।

५४. मूर्ति, के. एस., द इण्डियन स्पिरिट, वाल्टेयर, १९६५, पृ० १९५; क्रील, ए. बी., धर्म इन हिन्दू इथिक्स, कलकत्ता, १९७७, पृ० ६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

५५. वर्ण-व्यवस्था के शान्तिपर्व में प्राप्त होने वाले वर्णन उसके इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देते हैं।

५६ शान्ति० १५.३५; ७०.४.

५७. शान्ति० ५७.१५; ७०.३; मनु० ७.३५; नारद स्मृति, १८.५; बृहस्पति स्मृति, १.६; कामन्दकीय नीतिसार, २ ३४

५८. शंख-लिखित की कथा, इन्द्र-मान्धाता-संवाद, तुलाधार की कहानी, पाराशर-गीता के विविध आख्यान आदि इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं।

५९. 'भारतीय युग-परम्परा में महाभारत-युद्ध का काल द्वापर का अन्त माना जाता है। द्वापर का अर्थ है, द्विविधा, द्वैत, द्वन्द्व और संघर्ष। द्वापर वह युग है जिसमें इन प्रवृत्तियों का प्राबल्य हो।.........प्रायः ऐसे युग को संकट काल अथवा संक्रमणकाल कहा जाता है। ऐसे काल में जीवन के सभी प्रश्न और समस्त समस्यायें उलझी रहती हैं। संशय, दुविधा, द्वन्द्व और सघर्ष से सम्पूर्ण वातावरण व्याप्त रहता है। प्राचीन मान्यतायें टूटने लगती हैं और नयी अभी बन नहीं पातीं।'

पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ० ६३, सुकठंकर, वी. एस., ऑन द मीनिंग ऑव महाभारत, बम्बई, १९५७, पृ० ६३.

शान्तिपर्व में वर्ण-व्यवस्था की स्थापना और उसके पालन पर दिया गया अत्यधिक बल ही उसकी (वर्ण-व्यवस्था की) डाँवाडोल स्थिति का परिचायक है अन्यथा वैदिक काल से ही प्रचलित परम्परा की गतिशीलता बनाए रखने मात्र के लिए इतना बल देने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

६०. शर्मा, आर. एस., शूद्राज इन एन्शिएन्ट इन्डिया (हि० अनु०) विजय नाथ ठाकुर दिल्ली, १९७६, पृ० १७४; यादव बी० एन० एस०, सोसाइटी एण्ड कलचर इन नार्दर्न इन्डिया, इलाहाबाद, १९७३ पृ० ३; भट्टाचार्य, एस. सी., सम आस्पेक्ट्स ऑव इन्डियन सोसाइटी, कलकत्ता, १९७८, पृ० ८

६१. हाजरा, आर. सी., पौराणिक रिकर्डस ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स दिल्ली, १९७५, पृ० २१४; यादव, बी. एन. एस., वही,

६२. शर्मा, आर. एस., आस्पेक्ट्स ऑव पोलिटिकल आइडियाज एन्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शिएन्ट इन्डिया, पृ०, १७७–१७८; हाजरा, वही, पृ० २०५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

६३. अल्तेकर, ए. एस., स्टेट एन्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शिएन्ट इन्डिया, (तृ० सं०) दिल्ली, १९५८, पृ० ५२; रिज डेविड्स, बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० ४६८–४६९

शान्तिपर्व तथा मनुस्मृति में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच अच्छे सम्बन्ध होने के लिए दिया गया अत्यधिक बल भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। शान्ति०, अध्याय, ७४, ७५; मनु० ९.३२, ११.८३ देखिये, प्रोसीडिंग्स ऑव इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, ३९वां अधिवेशन हैदराबाद, १९७८ में एच. सी. सत्यार्थी का लेख 'सम आस्पेक्ट्स ऑव द प्राब्लम ऑव इनसिक्योरिटी एमंग द हायर ब्राह्मनाज ड्यूरिंग द पोस्ट मौर्य पीरियड ऑव नार्थ इन्डिया' तथा प्रोसिडिंग्स ऑव इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, वाराणसी अधिवेशन, १९६९ में उन्हीं का लेख 'सम आस्पेक्ट्स ऑव ग्रुप कांशसनेस एमंग द ब्राह्मनाज ऑव नार्थ इण्डिया ड्यूरिंग द पोस्ट मौर्य पीरियड।'

जी. सी. पाण्डे का विचार है कि क्षत्रियों द्वारा नवीन आध्यात्मिक आन्दोलनों में महत्वपूर्ण भाग लेने से यह अनुमान लगाना उचित नहीं है कि आर्थिक लाभ, सामाजिक प्रतिष्ठा और राजकीय शक्ति के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में जातिशः अथवा वर्गशः संघर्ष था।

पाण्डे, जी. सी., बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास; लखनऊ, १९६३, पृ० २०

६४. इसके प्रमाणस्वरूप शान्तिपर्व का सृष्टि विज्ञान, वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन तथा कर्म और पुर्नजन्म के सिद्धान्तों के माध्यम से वर्णनिर्धारण के आधारों–जन्म व कर्म-का समन्वय, निष्काम कर्म का प्रतिपादन कर वैदिक कर्म परम्परा व औपनिषदिक ज्ञान परम्परा का समन्वय आदि तथ्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है। शान्तिपर्व के अतिरिक्त मनुस्मृति का प्रणयन भी इसी आवश्यकता का ही परिणाम था। यही कारण है कि मनुस्मृति में अधिक से अधिक सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास दिखायी पड़ता है।

तुलनीय, डि स्मेट, आर. वी. (सं०), रिलिजस हिन्दूइज्म, इलाहाबाद, १९६४ में प्रकाशित आर. एन्टोनी का लेख, पृ० २६.

६५. यही कारण है कि जहाँ एक ओर शान्तिपर्व वैदिक यज्ञ और कर्मकांडों में घोर विश्वास व्यक्त करता है और उसके विरुद्ध चलने वालों को नास्तिक, ढोंगी और धर्मभ्रष्ट घोषित करता है वहीं दूसरी ओर ऐसे भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्थलों की कमी नहीं है जहाँ कर्म-परम्परा का घोर विरोध किया गया है और ज्ञान मार्ग की प्रतिष्ठा स्थापित की गयी है किन्तु शान्तिपर्व को उसकी सम्पूर्णता में देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों अतिवादी विचारधाराओं का समन्वय करके शान्तिपर्व 'निष्काम कर्म' के रूप में एक साथ ही कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग दोनों का परिवर्तित और परिवर्द्धित स्वरूप प्रस्तुत कर देता है।

६६. वर्ण-व्यवस्था से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों को संयोजित कर तथा उन्हें एक सूत्र में बाँधकर शान्तिपर्व ने एक नवीन आवरण में प्रस्तुत किया है और यही उसकी सबसे बड़ी देन है।

६७. शान्तिपर्व, ७७.२.६; १८१.१०–१३; १८२.३–८

६८. वही

६९. ब्राह्मण के लिए अध्ययन-अध्यापन और यजन, क्षत्रिय के लिए युद्ध व प्रजारक्षण, वैश्य के लिए कृषि, पशुपालन और वाणिज्य तथा शूद्र के लिए सेवावृत्ति; आपद्धर्म की विशेष परिस्थितियों को छोड़कर सामान्य-रूपसे शान्तिपर्व ने चारो वर्णों के लोगों के लिए सिद्धान्ततः इन्हीं कर्तव्यों का विधान किया है। व्यवहार रूप में यह कितना प्रचलित रहा होगा इसे शान्तिपर्व को उसकी सम्पूर्णता में देखने पर ही जाना जा सकता है।

७०. वोरा, डी० पी०, पूर्वोद्धृत, पृ० १२५·

कर्मविभाजन पर आधारित वर्णों की व्यवस्था कूले के अनुसार 'मुक्त सामाजिक वर्ग' की व्यवस्था थी जिसमें एक से दूसरे वर्ग में जाना संभव था। देखिए—कूले, सी. एच., सोशल आर्गनाइजेशन, न्यूयार्क १९०९, पृ० २१; प्रभु, पी. एच. पूर्वोद्धृत, पृ० २१६

७१. सूतपुत्र होने के कारण सभी क्षत्रियोचित योग्यताओं और गुणों के होते हुए भी कर्ण को सामाजिक मान्यता न मिलना तथा द्रोण, कृप अश्वत्थामा आदि की क्षत्रियवृत्ति के बावजूद उनका ब्राह्मण ही बने रहना इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

७२. यद्यपि स्थान-स्थान पर शान्तिपर्व अपने वर्ण के विपरीत वृत्ति अपनाने वाले ब्राह्मणों की घोर निन्दा करता है और उन्हें शूद्र घोषित करने में कोई संकोच नहीं करता।

शान्ति०, ६२.३–५; ६३.१,३–५; ६५.८.११

७३. शान्तिपर्व में ऐसे बहुत से वर्णन प्राप्त होते हैं जिनमें ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के आपसी सम्बन्धों को दृढ़ बनाने पर जोर दिया गया है। इन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वर्णनों का गहन अध्ययन यह सोचने को बाध्य करता है कि संभवतः शान्तिपर्वकालीन समाज में शासक तथा शासित वर्ग के बीच वैमनस्य बढ़ने लगा था जो अवसर पाकर कभी-कभी विद्रोह के रूप में प्रगट भी होने लगा था। ऐसे विद्रोहियों में निश्चित रूप से शूद्र अधिक होते होंगे क्योंकि समाज में उन्हीं की स्थिति सबसे बुरी थी। यही कारण है कि ब्राह्मण अथवा क्षत्रियों के व्यवसाय को ग्रहण करने वाले विद्रोहियों के रूप में अधिकांश उदाहरण इसी वर्ण से मिलते हैं। इसी प्रकार मनु का यह कहना कि स्नातक को शूद्र शासक के देश में नहीं बसना चाहिए शूद्र शासक के अस्तित्व को पुष्ट करता है और इसका कम से कम एक ऐतिहासिक उदाहरण हम नन्दवंश के शासकों के रूप में पाते हैं। शान्ति० अध्याय ७४, ७५; मनु०, ४.६१। अर्थशास्त्र के अध्ययन के आधार पर आर० एस० शर्मा ने यह बताया है कि 'शूद्र-वर्ण के सदस्यों का झुकाव अपने मालिकों के प्रति अच्छा नहीं था। चूंकि उस समय अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने का कोई शान्तिपूर्ण तरीका नहीं था इसलिए कभी-कभी वे लोग अपनी प्रतिक्रिया डकैती, सेंधमारी, मन्दिर की सम्पत्ति की चोरी, मालिक की हत्या, ब्राह्मणों के आडम्बर पर प्रहार और राज्य के प्रधान के प्रति विद्रोह जैसे आपराधिक कार्यकलाप के द्वारा व्यक्त करते थे। यद्यपि ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता जिससे पता चल सके कि उन लोगों ने संगठित होकर विद्रोह किया था।'

शर्मा, आर० एस०, शूद्रों का प्राचीन इतिहास (हि० अनु०) दिल्ली, १९७९, पृ० १६५; मूर्ति, के० एस०, पूर्वोद्धृत, पृ० १९७–१९८।

७४. शान्ति०, १४९.६२

७५. आदिपर्व, १२३.११

७६. आदिपर्व, १२३.२७

७७. शान्ति०, २.१३

७८. वही, ३.३०–३१

७९. कांगले, आर० पी०, (सं०) द कौटिल्य अर्थशास्त्र, भाग—३, बम्बई, १९६५, पृ० १४५

८०. गीता, २.५०

८१. शान्ति०, ६०.१२, २०, २२, २९; ६२.९;

८२. शान्ति०, ३२.२३; ६२.४, ११; स्वर्गारोहणपर्व, ५.५०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

८३. मूर्ति, के० एस०, पूर्वोद्धृत, पृ० १९७; पाण्डे, जी० सी० का लेख 'आइडेन्टिफाइंग इन्डियन कल्चर' देवहूति द्वारा सम्पादित प्रॉब्लम्स ऑव इन्डियन हिस्टोरियोग्राफी, दिल्ली, १९७९, पृ० ६–७

८४. मूर्ति, के० एस०, पूर्वोद्धृत, पृ० १२; विलियम्स, एम०, पूर्वोद्धृत, पृ० ४५४

८५. इस सन्दर्भ में यूनानी और चीनी सभ्यताओं का नाम लिया जा सकता है। यूनान की सोफिस्ट विचारधारा और प्लेटो के रिपब्लिक में अनेक सामाजिक सिद्धान्त देखने को मिलते हैं। चीन में कन्फ्यूशियस और मेन्सियस की विचारधाराओं में दो वैकल्पिक सामाजिक सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में तो उतने ही अधिक सामाजिक सिद्धान्त देखने को मिलते हैं जितने कि सामाजिक विचारक।

८६. पी० हार्डी ने मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत मुस्लिम समाज को चार वर्गों में विभाजित किया है। ये वर्ग हैं—अध्ययनशील (Men of pen), शूरवीर (Men of Sword), व्यापारी (Men of bussi-ness) और श्रमिक वर्ग (Men of Soil)। द्रष्टव्य—विलियम थियोडोर डि बेरी द्वारा सम्पादित सोर्सेज ऑव इन्डियन ट्रेडीशन्स, (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, १९७२ में पी० हार्डी का लेख, पृ० ५०९-५११।

८७. ट्रॉटमन, थामस आर०, 'ऑन द ट्रान्सलेशन ऑव द टर्म 'वर्ण', जर्नल ऑव इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑव ओरियन्ट, जिल्द, ७, १९६४, पृ० १९८; दास गुप्ता, एस० एन० तथा डे, एस० के०, ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, जिल्द—१, कलकत्ता, १९४७, पृ० lxxii–lxxiii, lxxix

८८. अपने वर्ण के विपरीत कर्म करने वाला ब्राह्मण शान्तिपर्वकार की दृष्टि में दास, कुत्ते, भेड़िये तथा अन्य पशुओं के लिए प्रयुक्त निन्दासूचक संज्ञा का पात्र होता है। ऐसे ब्राह्मणों को शान्तिपर्व शूद्र घोषित करता है और उन्हें ब्राह्मणों की पंक्ति से बाहर कर देने का निर्देश देता है।

शान्ति० ६२.५; ६३.४–५; ६५.८; ७७.६–७,

८९. वही,

तुलनीय, राव, एम० वी० के०, स्टडीज इन कौटिल्य, (द्वि० सं०) दिल्ली, १९७९, पृ० ४३.

९०. जाजलि और तुलाधार की कथा इसका स्पष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धर्म-व्याध और कायव्य के उदाहरण भी शान्तिपर्व की इसी मान्यता को बल प्रदान करते हैं।

९१. विलियम्स, एम०, पूर्वोद्धृत, पृ० ४७३

९२. वही, पृ० ४५५, राधाकृष्णन, द स्पिरिट ऑव रिलिजन, पृ० १९

९३. विलियम्स, एम०, वही, पृ० ४७३

९४. मिश्र, कामेश्वर नाथ, महाभारत में लोक-कल्याण की राजकीय योजनायें, वाराणसी, १९७२, पृ० २४

९५. राधाकृष्णन, पूर्वोद्धृत, पृ० २१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सामाजिक स्थायित्व का साधक : क्षात्र-धर्म

"यूनानियों के लिए अस्तित्व जीवन और यथार्थ से परिपूर्ण है, किन्तु हिन्दुओं के लिए यह एक स्वप्न और भ्रान्ति है",[1] मैक्समूलर का यह कथन पाश्चात्य विचारकों की उस धारणा की पुष्टि करता है जिसके अनुसार भारतीय विचारधारा पारलौकिक उपलब्धि को ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानती है और उसकी तुलना में ऐहलौकिक उपलब्धि को अत्यन्त तुच्छ और नगण्य समझती है। मैक्समूलर का यह कथन, सावधानी पूर्वक आलोचना करने पर, एकांगी ही सिद्ध होता है। यदि भारतीय 'दार्शनिकों और पुरोहितों' के परिप्रेक्ष्य में इसका अवलोकन किया जाय तो कुछ सीमा तक यह सत्य सिद्ध हो सकता है किन्तु यदि मैक्समूलर के 'हिन्दू' को सामान्य हिन्दू जन से समीकृत किया जाय तो यह एक भ्रामक विचार ही प्रतीत होता है।[2] यद्यपि धर्म प्राचीन भारतीय जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग था और भारतीय जीवन के प्रायः सभी पहलू धर्म से अनुप्राणित थे, तथापि धर्म का सम्बन्ध केवल पारलौकिक उपलब्धि से ही नहीं था। पारलौकिक उपलब्धियों के साथ-साथ ऐहलौकिक उपलब्धि की प्राप्ति भी धर्म का एक प्रमुख उद्देश्य था। भारतीय विचारधारा के अनुसार धर्म के तत्वों में 'निःश्रेयस्' के साथ-साथ 'अभ्युदय' का भी समावेश किया गया है।[3] जीवन के चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-में प्रथम तीन ऐहलौकिक जीवन से ही सम्बन्धित हैं। अतः भौतिक जगत के प्रति भारतीयों की उदासीनता का पाश्चात्य विद्वानों का यह आरोप कुछ उचित नहीं प्रतीत होता।[4] वास्तव में धर्मपूर्वक 'अर्थ' और 'काम' का सेवन करते हुए मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करते रहना ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है।

भारतीय संस्कृति के मूल में व्याप्त जीवन के ऐहलौकिक और पारलौकिक दृष्टिकोणों का यह अन्तर्विरोध और इसके प्रति अपनाया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया भारतीय रुख हमारे प्राचीन साहित्य में कहीं भी इतना उभर कर सामने नहीं आ पाया है जितना कि महाभारत के शान्तिपर्व में। ऐहलौकिक उपलब्धि की पराकाष्ठा राजपद और कीर्ति है जिसे धर्म-पूर्वक प्राप्त करने के लिए पाण्डवों ने वनवास और अज्ञातवास जैसे अनेक कष्ट सहे और अन्ततोगत्वा अठारह दिनों तक चलने वाला भीषण संग्राम किया जिसमें कौरव और उनके सारे सहायक मार डाले गए। पाण्डवों को सम्पूर्ण राज्य, विजयश्री और अन्याय के प्रतिकार का प्रत्याशित लाभ हुआ लेकिन इस लाभ के लिए उन्हें गुरूओं, सगे-सम्बन्धियों और ज्ञातियों का वध करना पड़ा।[५] इस कीमत पर प्राप्त की गयी यह उच्चतम ऐहलौकिक उपलब्धि ही शान्तिपर्व में मूल्यांकन का विषय बनायी गयी है। मानव-जीवन के परमार्थ के समक्ष इसकी तुच्छता को उभारा गया है और परमार्थ के साधन के रूप में पाण्डव जैसे योद्धाओं के हत्या, नृशंसता, स्वार्थ और दम्भ से भरे हुए उन कार्यों का मूल्यांकन किया गया है जो महाभारत जैसे धर्मयुद्ध में यथेष्ट रूप से विद्यमान थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह युद्ध न्याय और धर्म की स्थापना के लिए हुआ, फिर भी हिंसा तो हुई ही, ज्ञातिवध तो हुआ ही और योद्धाओं का स्वार्थ भी हल हुआ ही। क्या इस युद्ध में सफल योद्धाओं को उनके जीवन का सर्वस्व मिल गया? क्या उनकी आत्मायें हिंसा के विगत ताण्डव और सगे-सम्बन्धियों से होने वाले वियोग के कारण दुःखी नहीं हैं?[६] यदि हैं, तो यह कैसी उपलब्धि है जो मनुष्य के चित्त को शान्ति नहीं दे सकती, उसे उसके जीवन के परमार्थ तक नहीं पहुँचा सकती? यह कैसा धर्म है जो धर्म और न्याय की स्थापना के नाम पर हिंसा, स्वार्थ, नृशंसता और पश्चाताप का मार्ग दिखाता है? महाभारत युद्ध के इस क्रूर यथार्थ के समक्ष योद्धाओं के कार्य को क्या उनका धार्मिक कर्तव्य ठहराया जा सकता है? शान्तिपर्व की समस्त सामग्री वस्तुतः हिंसात्मक वास्तविकता के परिप्रेक्ष्य में क्षात्रधर्म[७] की अवधारणा को फिर से प्रतिष्ठित करने का एक प्रयास है।[८] प्रस्तुत अध्याय में इसी प्रयास की विवेचना करने की चेष्टा की गयी है।

प्राचीन भारत में ऐहलौकिक हितों का बोध 'अर्थ' शब्द से कराया जाता था।[९] यद्यपि त्रिवर्ग का 'काम' भी ऐहलौकिक है तथापि उपभोगपरक होने के कारण उसकी गणना लौकिक सुख के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साधनों में न होकर साध्यों में होती है। त्रिवर्ग का 'अर्थ' ऐहलौकिक साध्यों अर्थात् 'काम' को उपलब्ध कराने वाला साधन है।[१०] 'अर्थ' से तात्पर्य मनुष्य की जीविका से है और इसी कारण मनुष्यवती भूमि भी 'अर्थ' है।[११] ऐसी मनुष्यवती भूमि के लाभ और पालन के चार महत्वपूर्ण उपाय—साम, दान, भेद और दण्ड—बताए गए हैं।[१२] युद्ध दण्ड के अन्तर्गत आने वाला अन्तिम उपाय है जो तभी प्रयोग में लाया जाता है जब अन्य सभी उपाय निष्फल हो जायँ।[१३] युद्ध करने वाले को योद्धा कहते हैं। वह शक्तिशाली होता है किन्तु स्वेच्छाचारी नहीं। उसका बल धर्म और न्याय की रक्षा के लिए होता है, अत्याचार और उत्पीड़न के लिए नहीं। उसके बल का आधार आत्मसंयम है और यह आत्मसंयम इस कोटि का है कि शत्रु के आमने-सामने होते हुए भी उसे संयत और धर्मपरायण होना चाहिए। मृत्यु निश्चित होते हुए भी उसे वीरतापूर्वक लड़ना चाहिए, अपना वचन निभाना चाहिए और विश्वासघात नहीं करना चाहिए।[१४] योद्धा के इस आदर्शस्वरूप को पाण्डव पूरी तरह अपनाते हैं। वे समर्थ और शक्तिशाली होते हुए भी जुए में हार जाने के बाद अपमानपूर्ण शर्तें स्वीकार कर लेते हैं किन्तु बल प्रयोग नहीं करते।[१५] जंगल-जंगल भटकते हैं, एक वर्ष तक अज्ञातवास करते हैं, अपना वचन निभाने के लिए सारी यातनायें भोगते हैं। वचन पूरा कर दिखाने के बाद भी जब कौरव अन्यायपूर्वक उनका अधिकार देने से इन्कार करते हैं तो शान्तिपूर्ण तरीकों को अन्तिम बार प्रयोग में लाते हुए वे कृष्ण को वार्ता के लिए भेजते हैं किन्तु जब कृष्ण का प्रयास भी विफल हो जाता है तो अन्याय के प्रतिकार के अन्तिम साधन के रूप में दण्ड अथवा युद्ध का प्रयोग करते हैं।[१६] महाभारत के प्रतिपक्ष के योद्धा कर्ण और दुर्योधन भी मर्यादित पुरुष हैं। कर्ण के चरित्र को विशेष रूप से योद्धा के आदर्शस्वरूप में उपस्थित करने की चेष्टा की गयी है। पाण्डवों का भाई होने के तथ्य को जानकर भी वह कौरवों का साथ नहीं छोड़ता।[१७] भाई होने का सगापन दुर्योधन के साथ मित्रता निभाने की वचनबद्धता से ऊपर नहीं है।[१८] वह वीर है, दानी है, वचन का पक्का है।[१९] उसमें आदर्श योद्धा के सारे गुण मौजूद हैं किन्तु उसके सारे गुण अन्याय के पोषक हैं।[२०] दुर्योधन तथा उसकी सेना के प्रत्येक योद्धा अद्वितीय पराक्रम, यश और प्रतिष्ठा जैसे गुणों से युक्त हैं। इनमें से कई तो वयोवृद्ध तथा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धर्म और शस्त्रविद्या के क्षेत्र में आधिकारिक ज्ञान रखने वाले हैं जैसे—भीष्म, द्रोण और कृप। अब तक उन्होंने भी धर्म की रक्षा की और न्याय का पक्ष लिया लेकिन पाण्डवों के झगड़े में वे सब के सब अन्याय के पोषक और अधर्म के रक्षक बन गए।[२१]

योद्धा के आदर्श स्वरूप का निर्वाह इस प्रकार एक सीमा तक कौरव भी करते हैं किन्तु पाण्डव उसे पूरी तरह अपनाने और अपने व्यक्तित्व में उतारने का दावा करते हैं। लेकिन न्याय और अन्याय तथा धर्म और अधर्म के द्वैत पर आधारित युद्ध जब यथार्थ बन गया तो पाण्डव भी किस सीमा तक आदर्श योद्धा की मर्यादाओं के अन्दर रह पाए ? यथार्थ ने यह प्रदर्शित कर दिया कि पाण्डवों ने भी युद्ध में छल किया, वचन तोड़े और विश्वासघात किया।[२२] क्या यह केवल कथनी-करनी का भेद है अथवा धर्मस्थापना के केन्द्रीय उद्देश्य को देखते हुए क्षम्य और अनुमोदनीय है ? जब युद्ध के यथार्थ में पाण्डव जैसे योद्धा भी अपने मौलिक गुणों का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर पाये तो क्या युद्ध को सचमुच नियमों में बाँधा जा सकता है ? साधन के रूप में ही सही, क्या उसे मूल्यवर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है ? क्या उद्देश्य की शुद्धता के समक्ष उसे प्राप्त करने वाले साधन की शुद्धता और धार्मिकता अनावश्यक है ? क्या युद्ध एक धर्मनिरपेक्ष प्रक्रिया है ? यदि युद्ध एक धर्मनिरपेक्ष प्रक्रिया है तो उसे अपने व्यवसाय के रूप में अपनाने वाले को भी क्षात्रधर्म के क्षेत्र से पृथक् एक मूल्यनिरपेक्ष प्राणी मान लेना चाहिए। क्षात्रधर्म जैसी आचरण की किसी विशेष कोटि की बात ही नहीं करनी चाहिए। क्या क्षात्रधर्म जैसी कोई चीज सम्भव है ? यदि है, तो उसकी आवश्यकता क्या है ?

शान्तिपर्व के अनुसार सर्वथा दण्डविहीन समाज या तो मात्स्य-न्याय की स्थिति उत्पन्न करेगा या फिर कृतयुग की।[२३] मात्स्यन्याय की स्थिति वह दशा है जिसमें सबल स्वेच्छाचारी होता है और निर्बल का कोई स्वत्व या अधिकार होता ही नहीं। सबल की इच्छा ही न्याय और धर्म होती है।[२४] कृतयुग की स्थिति सुनहरे अतीत का वह काल है जब न तो राजा था, न राज्य; न दण्ड था और न दाण्डिक। प्रजा के सारे लोग सहज धर्मपूर्वक आचरण के द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते थे।[२५] लेकिन यह सुनहरा अतीत अब बीत चुका है, उसे लौटाया नहीं जा सकता। अतः उपलब्ध विकल्प अब दो ही हैं—मात्स्यन्याय और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दण्ड। दण्ड बाहर से लादी गयी कोई शक्ति नहीं है, उसका आधार मानव-स्वभाव में वर्तमान धर्म और न्याय की प्रवृत्ति है। वह वस्तुतः धर्म और न्याय की शक्ति का ही बाह्यीकरण है।[२६] एक वैदिक ग्रंथ का कथन है कि धर्म और सत्य की शक्ति से निर्बल सबल पर शासन करता है।[२७] पुराणों में दण्ड को 'धर्म का पुत्र' कहा गया है।[२८] दण्ड में चूंकि युद्ध समाहित है इसलिए युद्ध आवश्यक है और धर्म से उसका अन्तरंग सम्बन्ध भी है। युद्ध और दण्ड का प्रतिनिधित्व करने वाली लौकिक संस्था राज्य है। राज्य ही मर्यादाओं की मर्यादा है क्योंकि वह दण्ड धारण करता है। जिस प्रकार हाथी के पैर में सभी जानवरों के पैर समा जाते हैं, उसी प्रकार राजधर्म में अन्य सभी धर्मों का समावेश हो जाता है।[२९] यदि राज्य का आधार धर्म[३०] है तो युद्ध का आधार भी धर्म है लेकिन राज्य और युद्ध उसी प्रकार धर्म के भी आधार हैं, क्योंकि मात्स्यन्याय अथवा अराजक की स्थिति में धर्म नहीं होता और धर्मविहीन राज्य, युद्ध अथवा दण्ड मात्स्य-न्याय का कारण बनता है।[३१] अतः युद्ध और धर्म अन्योन्याश्रित हैं[३२] लेकिन उसी सीमा तक युद्ध और मात्स्यन्याय भी अन्योन्याश्रित हैं यदि युद्ध धर्म की मर्यादाओं का अतिक्रमण कर अधर्म की सीमा में पहुँच जाता है। युद्ध का मूल्यांकन इस प्रकार केवल धर्म की कसौटी पर ही हो सकता है।[३३] धर्म साध्य है और युद्ध साधन। दूसरे शब्दों में युद्ध द्वारा उपलब्ध साध्य का स्वरूप ही अपनी धार्मिकता अथवा अधार्मिकता के अनुरूप युद्ध की धार्मिकता अथवा अधार्मिकता का निर्णय करेगा। युद्ध के अपने कार्य-व्यापारों की धार्मिकता अथवा अधार्मिकता गौण हो जाती है और साध्य की धार्मिकता अथवा अधार्मिकता के अन्तिम आधार पर ही मूल्यांकित की जा सकती है।[३४] युद्ध और धर्म इस प्रकार न तो परस्पर निरपेक्ष हैं और न युद्ध धार्मिकता की सीमा से परे ही है। इसलिए प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अनुसार युद्ध-कार्य को अपना व्यवसाय बनाने वाले योद्धाओं का सामाजिक वर्ग भी न तो धर्मनिरपेक्ष हो सकता है और न धर्म से ऊपर ही। क्षात्रधर्म एक सम्भव ही नहीं, अपितु आवश्यक परिकल्पना है। इसके बिना व्यवस्थित समाज मात्स्यन्याय की अराजकता में बदल जायेगा।

क्षात्रधर्म का प्रमुख उद्देश्य अन्याय का प्रतिकार कर समाज में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धर्म और न्याय की स्थापना के लिए संघर्ष करना है। युद्ध इस उद्देश्य को प्राप्त करने की दिशा में एक साधन है जिसे अन्तिम साधन के रूप में ही प्रयोग करने की अनुमति दी गयी है।[३५] प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था में समाज के एक विशिष्ट वर्ग–क्षत्रिय–को ही प्रजा-पालन और प्रजा-रक्षण का दायित्व सौंप दिया गया था[३६] इसलिए क्षात्रधर्म राजधर्म का अभिन्न अंग बन गया। दण्डनीति राजधर्म के चार साधनों—साम, दान, भेद और दण्ड—में अन्तिम किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है क्योंकि जिन झगड़ों का निपटारा प्रथम तीन साधन नहीं कर पाते उन्हें दण्ड ही निपटाता है।[३७] 'दण्ड' का अर्थ है अपने देश में अपराधी को फाँसी देना, शारीरिक दण्ड या अर्थदण्ड देना तथा शत्रुओं से युद्ध करना, शत्रुओं का नाश करना; धन-धान्य पशु, दुर्ग आदि पर अधिकार कर लेना; ग्रामों और जंगलों को जलाना तथा लोगों को बन्दी बना लेना।[३८] दण्ड राजधर्म का एक प्रमुख साधन है जिसकी सहायता से राजा समाज में धर्म और न्याय की स्थापना करता है। दण्ड के भय से सभी वर्णों और आश्रमों के लोग अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं।[३९] दण्ड के भय से सभी स्थावर और जंगम प्राणी अपना-अपना भोग भोगने के लिए प्रस्तुत रहते हैं।[४०] दण्ड ही समाज में मर्यादा की स्थापना करता है।[४१] वही सभी प्रजाओं पर शासन करता है। सबके सो जाने पर दण्ड ही जागता रहता है।[४२] दण्ड का समुचित प्रयोग 'त्रिवर्ग' की रक्षा और वृद्धि करता है।[४३] दण्ड के अभाव अथवा अनुचित प्रयोग से समाज में मर्यादायें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं[४४] तथा मात्स्यन्याय का बोलवाला हो जाता है। दण्ड इन सबका दमन करता है। दमन करने के कारण ही यह दण्ड कहलाता है।[४५] दण्ड क्षत्रिय की शोभा होती है। दण्ड से रहित क्षत्रिय राजा पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता और उसकी प्रजाओं को सुख नहीं मिलता।[४६] दुष्टों को दण्ड देना, सज्जनों की रक्षा करना और युद्ध में कभी पीठ न दिखाना ये राजाओं के परमधर्म हैं।[४७] जिसमें समयानुसार क्षमा और क्रोध दोनों प्रकट होते हैं, जो दान देता और कर लेता है, जिसमें शत्रुओं को भयभीत करने और शरणागतों को अभय प्रदान करने की शक्ति है, जो दुष्टों को दण्ड देता और दीनों पर अनुग्रह करता है वही धर्मज्ञ कहलाता है।[४८] सैनिक शक्ति से सम्पन्न राजा दूसरे लोगों को धर्मविषयक परमगति की प्राप्ति कराता है इसलिए राजधर्म ही सबसे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्रेष्ठ है और अन्य सभी धर्म उसके अधीन हैं। राजा से अपनी रक्षा का वचन पाकर ही सभी वर्णों के लोग अपने-अपने धर्मों का पालन करते हैं इसलिए क्षात्रधर्म में अन्य सभी धर्मों का समावेश हो जाता है।[४९] चारों आश्रमों के धर्म, यतिधर्म और लौकिक तथा वैदिक उत्कृष्ट धर्म सभी क्षात्रधर्म में प्रतिष्ठित है।[५०] युद्ध क्षत्रियों के लिए प्रधान मार्ग है। उनके लिए दस्युओं के संहार से बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठतम कार्य नहीं है।[५१] राज्य-विस्तार के लिए युद्ध की सर्वत्र प्रशंसा की गयी है। राज्य-विस्तार के लिए युद्ध करना क्षात्रधर्म का एक प्रमुख उद्देश्य माना गया है। अप्राप्त को प्राप्त करना, प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि और वृद्ध का सुपात्र में निक्षेप—यह दण्डनीति का प्रमुख उद्देश्य माना गया है।[५२] राज्य-विस्तार की इच्छा से लड़े जाने वाले इस युद्ध में मृत्यु की चिन्ता किए बिना युद्धरत रहना चाहिए क्योंकि युद्ध में मृत्यु को प्राप्त योद्धा महान तपस्वियों के लोकों में जाते हैं।[५३] ऐसे योद्धाओं की मृत्यु शोचनीय नहीं होती। युद्धभूमि में क्षत्रियों की मृत्यु सदा प्रशंसनीय रही है। उसके लिए घर में मृत्यु अधर्मतुल्य थी।[५४] क्षत्रिय के लिए युद्ध से पलायन करना एक अक्षम्य अपराध माना गया है। युद्धभूमि से पलायन करने वाला क्षत्रिय अपने राष्ट्र भर के पापों को भोगता है[५५] और उसके द्वारा अर्जित पुण्यों का लाभ स्वामी प्राप्त कर लेता है।[५६]

शान्तिपर्व में युधिष्ठिर के कथोपकथन के माध्यम से क्षात्रधर्म अथवा योद्धाधर्म के औचित्य में महाभारत युद्ध के यथार्थ द्वारा उत्पन्न किए गए सन्देह को व्यक्त किया गया है। क्षात्रधर्म के औचित्य के विरुद्ध युधिष्ठिर द्वारा दिए गए अनेक तर्कों में एक तर्क यह भी है कि क्षात्रधर्म के अनुयायी स्वार्थसिद्धि की भावना से प्रेरित होकर वह जघन्य कर्म करते हैं जो बड़े से बड़े सुख के लिए भी किसी को नहीं करना चाहिए। युधिष्ठिर कहते हैं कि "यदि हम लोग वृष्णियों और अन्धकों के नगर में भिक्षा माँगकर भी अपना निर्वाह करते और अपने ज्ञातियों का वध न करते तो हम इस दुर्गति को कभी न प्राप्त होते। यह सत्य है कि कौरव हमारे शत्रु थे, समृद्धिशाली थे और अर्थवान थे किन्तु स्वयं अपने-आप (सगे-सम्बन्धियों) को मारकर हमने किस धर्म का फल प्राप्त कर लिया? उस क्षात्रधर्म को धिक्कार है, उस बाहुबल को धिक्कार है और उस क्रोध को धिक्कार है जिसके कारण हम इस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आपत्ति को प्राप्त हुए हैं। इसके विपरीत जंगल में नित्य निवास करने वालों के क्षमा, संयम, शौच, अवैरोध्य, अमत्सर, अहिंसा और सत्य-वचन जैसे गुण इनकी अपेक्षा अधिक ऊँचे और कल्याणकारी हैं। हम लोग इस अवस्था को लोभ, मोह और मान की स्पृहा के कारण तथा राज्यसुख की बुभुक्षा के कारण प्राप्त हुए हैं। अपने बन्धु-बान्धवों की हत्या करने वाले तथा पृथ्वी के उपभोग के लिए लालायित हम लोगों को कोई तीनों लोकों के राज्य द्वारा भी प्रसन्न नहीं कर सकता।"[५७] युधिष्ठिर के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि अपने कर्मों पर किए गए पुनर्विचार से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि क्षात्रधर्म निभाने के प्रयास में उन्होंने जो कुछ भी किया उसके मूल में राज्य प्राप्त करने तथा भौतिक सुखों के उपभोग की स्पृहा ही थी यद्यपि उसके ऊपर क्षात्रधर्म का आवरण चढ़ा हुआ था। क्षात्रधर्म इस प्रकार योद्धाओं के स्वार्थ-साधन का एक उपाय है जिसे धर्म का नाम देना भी शायद महाभारत युद्ध के यथार्थ के सन्दर्भ में उचित नहीं रह गया था। युधिष्ठिर के विचार में वे लोग स्वार्थ के कारण इतने अंधे हो गए थे कि उन्हें बन्धु-बान्धवों के वध जैसा जघन्य कार्य भी धर्म मालूम होने लगा था। युधिष्ठिर की इस शंका का समाधान करते हुए अर्जुन ने क्षात्रधर्म के औचित्य को फिर से प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। अर्जुन अपने तर्क में 'अर्थ' की प्रधानता पर बल देते हैं और यह कहते हैं कि 'अर्थ' से ही धर्म, काम और स्वर्ग की सिद्धि होती है। इस संसार की प्राण यात्रा भी 'अर्थ' के बिना नहीं चल सकती।[५८] "अर्थ से रहित पुरुष की सारी क्रियायें उसी प्रकार समाप्त हो जाती हैं जिस प्रकार गर्मी में छोटी नदियों का अस्तित्व विलीन हो जाता है।[५९] धनहीन तथा अर्थ-प्राप्ति की कामना से रहित व्यक्ति में विजय की इच्छा भी नहीं हो सकती क्योंकि 'अर्थ' के उपार्जन के लिए 'अर्थ' उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार बड़े हाथी को पकड़ने के लिए हाथियों की जरूरत होती है।[६०] अर्थप्राप्ति के लिए ही अपने धर्म का पालन करते हुए अतिमानवीय प्रयासों द्वारा हमने शत्रुओं को मारकर पृथ्वी प्राप्त की, विजयश्री प्राप्त की। क्या इस लाभ को बुद्धिभ्रम के कारण यों ही छोड़ देना चाहिए? राज्य नपुंसक के लिए नहीं होता, दीर्घसत्री के लिए नहीं होता।[६१] क्रोध के आवेग में क्या हमने राजाओं का वध अकारण ही बिना किसी लक्ष्य के कर दिया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है ? जहाँ तक ज्ञातिवध का प्रश्न हैं, देवासुर संग्राम पर यदि दृष्टि डाली जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञातिवध से कम किसी चीज से देवता भी समृद्धिशाली नहीं होते[६२] (तो मनुष्यों का कहना ही क्या ?)। यदि किसी दूसरे का कुछ अपहरण नहीं करना है तो धर्म का प्रारम्भ ही कैसे हो सकता है (अर्थात् धर्मसम्पादन के लिए आवश्यक साधन आयेंगे कहाँ से) ? वेदों तथा विद्वानों का यही निश्चित मत है कि त्रयी विद्या का अध्ययन करना चाहिए, विद्वान बनना चाहिए, किन्तु प्रयत्नपूर्वक सब प्रकार से धन भी प्राप्त करना चाहिए और धन प्राप्त कर यज्ञ करना चाहिए।[६३] द्रोह से ही देवताओं ने स्वर्ग में स्थान प्राप्त किया है।[६४] दिलीप, नृग, नहुष, अम्बरीष, मान्धाता की तरह यह पृथ्वी आपको वीरतापूर्ण कार्यों द्वारा प्राप्त हुई है और यदि इस पर भी आप द्रव्यमय यज्ञ के द्वारा देवताओं को संतुष्ट नहीं करते तो आपको दैवी पाप लगेगा। राजा लोग यदि अश्वमेध यज्ञ से देवताओं को प्रसन्न करते हैं तो उसके समाप्ति-स्नान के द्वारा वे सब पवित्र हो जाते हैं।"[६५]

युधिष्ठिर और अर्जुन के संवाद से दो परस्पर विरोधी दृष्टियों का परिचय प्राप्त होता है। अर्जुन की दृष्टि विशुद्ध वैदिक दृष्टि है जो 'अर्थ' को सभी पुरुषार्थों का स्रोत मानती है। उसके लिए अर्थ का चरम लक्ष्य यज्ञ है।[६६] यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं और स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यज्ञ से समस्त पापों का उपशमन होता है।[६७] अर्थ चूँकि सभी पुरुषार्थों का मूल है अतः अर्थ किसी भी तरह प्राप्त किया जा सकता है।[६८] अर्थप्राप्ति के लिए दूसरे के अर्थ का अपहरण आवश्यक है किन्तु यह अपहरण स्वधर्म के पालन के साथ होना चाहिए। अपहरण की प्रक्रिया में यदि ज्ञातिवध होता है तो कोई पाप नहीं क्योंकि देवताओं की श्री भी ज्ञातिवध द्वारा ही प्राप्त हुई थी।[६९] युधिष्ठिर की दृष्टि के मूल में भिक्षु-प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। उसके अनुसार मानव-पुरुषार्थों का आधार सच्चरित्रता तथा तपस्या है।[७०] सच्चरित्रता के साथ जिस सीमा तक वीरता का निर्वाह हो सकता है, उस सीमा तक की वीरता अच्छी है और उस सीमा तक की वीरता से प्राप्त अर्थलाभ भी अच्छा है लेकिन यदि अर्थसाधन के लिए वीरता को आवश्यक तथा मौलिक मानकर उसके लिए सच्चरित्रता का बलिदान किया जाता है तो उसका अनुमोदन नहीं किया जा सकता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

क्योंकि उससे व्यक्ति को 'सर्वस्व-लाभ' का बोध नहीं होता। जीवन में कुछ चीजें ऐसी हैं जिन्हें अर्थलाभ से बड़ा ठहराया जा सकता है,[७१] जैसे बड़े-से-बड़े अर्थलाभ के लिए भी ज्ञातिवध युधिष्ठिर की राय में उचित नहीं है। ज्ञातिवध से होने वाली मानसिक अशान्ति को राज्यलाभ या अर्थलाभ दूर नहीं कर सकता।[७२] उसके लिए सन्यास और अपरिग्रह का जीवन बिताते हुए आत्मदर्शन का लाभ आवश्यक है। आत्मसंतोष ही सबसे बड़ा संतोष है, वही शाश्वत है और वही नित्य है।[७३] अर्जुन के संवाद में निहित वैदिक दृष्टि इसे कायरता मानती है।[७४] शान्तिपर्व में युधिष्ठिर की दृष्टि का खंडन कर अर्जुन की वैदिक दृष्टि की स्थापना की गयी है और उसके आधार पर यह दिखाने की चेष्टा की गयी है कि अर्थसाधन स्वार्थसाधन नहीं है क्योंकि इससे किसी का व्यक्तिगत अभ्युदय मात्र नहीं होता बल्कि उसके साथ धर्म और न्याय की व्यवस्था का भी अभ्युदय होता है। लोक में धर्म और न्याय की स्थापना स्पष्टतः पलायन से नहीं हो सकती। उसके लिए वीरता का आधार जरूरी है। न्याय और धर्म की स्थापना के लिए ज्ञातिवध का दोष भी क्षम्य है और इसलिए क्षात्रधर्म निन्दनीय नहीं है।[७५] पाण्डवों के चरित्र की भर्त्सना नहीं की जा सकती। महाभारत युद्ध के यथार्थ को धर्म-विपर्यय नहीं कहा जा सकता।

क्षात्रधर्म न्याय और धर्म की स्थापना के लिए तो आवश्यक है ही, साथ ही वह लोकरंजन के लिए भी आवश्यक है। युधिष्ठिर का निष्क्रियतावादी सन्यास यद्यपि व्यक्ति को उच्चतम नैतिक आदर्श तक पहुँचाने में सक्षम है लेकिन उससे केवल एक व्यक्ति का कल्याण हो सकता है और वह भी केवल उस व्यक्ति का जो उस मार्ग पर स्वेच्छा से तत्परतापूर्वक चलना चाहे।[७६] न तो सभी को अपरिग्रह के मार्ग पर चलने के लिए बाध्य किया जा सकता है (किया भी जाय तो किस शक्ति से ?) और न केवल कुछ व्यक्तियों के उच्चतम नैतिक आचरण से दुष्टनिग्रह तथा अन्याय के दमन की समस्यायें ही हल की जा सकती हैं। अतः युधिष्ठिर के सब कुछ छोड़कर भिक्षु बन जाने से उन्हें अपनी अवधारणा की व्यक्तिगत शान्ति भले ही मिल जाती लेकिन लोकरंजन और लोक-व्यवस्था की समस्यायें तो बिल्कुल ही हल नहीं हो सकती थीं। अपनी धारणा में जीवन का सर्वस्व पाकर शान्तिभोग करते हुए

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भिक्षु युधिष्ठिर दूसरों की दृष्टि में निरे मूर्ख भी लग सकते थे[७७] क्योंकि काल्पनिक सुख और शान्ति के लिए वे ज्ञातिवध तक की कीमत पर जीते गए राज्यसुख और वैभव की अवहेलना करके सत्ता-परिवर्तन द्वारा लादे गए उत्तरदायित्वों से भागते हुए प्रतीत होते। राज्य-सुख और वैभव इस प्रकार योद्धा के स्वार्थ की संकुचित सीमाओं में बंधी हुई उपलब्धियाँ मात्र नहीं हैं, इनके साथ ही प्रजापालन और लोक-रंजन का वह दायित्व भी जुड़ा हुआ है जिससे वह भाग नहीं सकता[७८] इन दायित्वों का निर्वाह किये बिना यदि वह राज्यसुख और वैभव का उपभोग करता है तो क्षात्रधर्म से च्युत होता है। अपरिग्रह, सन्यास या आत्मशान्ति के नाम पर यदि वह इन तथाकथित स्वार्थपूर्ण उप-लब्धियों और दायित्वों दोनों का त्याग करता है, जैसा कि युधिष्ठिर करना चाहते हैं, तो उसे यह बताना होगा कि इतना बड़ा उद्देश्य-विहीन रक्तपातपूर्ण युद्ध और हिंसात्मक परिवर्तन उसने किया क्यों ?[७९] युद्ध और सत्ता-परिवर्तन के पूर्व ही उसे उसके औचित्य पर विचार कर लेना चाहिए था। एकबार युद्ध और परिवर्तन के औचित्य में विश्वास करके उसे कर गुजरने के बाद उसकी जिम्मेदारियों से आत्मशान्ति, निःस्वार्थता और अपरिग्रह के नाम पर भागा नहीं जा सकता। भागने वाला अपने पलायन को वड़े से बड़े आदर्श के रूप में प्रस्तुत कर सकता है किन्तु देखने वालों की दृष्टि में वह कायरता और नपुंसकता से अधिक कुछ भी नहीं है। जिसे युधिष्ठिर पृथ्वी और राज्य-सुखों के उपभोग की अदम्यलिप्सा के रूप में चित्रित करना चाहते हैं, शान्तिपर्व का अभीष्ट मत उसे ही अन्याय को दूर करने की हिंसात्मक प्रक्रिया के उपरान्त लोक-व्यवस्था और लोकरंजन के दायित्वों को पूरी तरह निभाने की योद्धाओं की उत्कट कर्तव्यनिष्ठा के रूप में स्थापित करता है।

स्वार्थ-साधन नहीं, बल्कि लोकरंजन इस प्रकार क्षात्रधर्म का एक प्रमुख लक्ष्य है। लोकरंजन ही राजाओं के लिए सनातन धर्म है[८०] जिसका पालन करने के लिए वे युद्ध करते हैं। बलवानों से दुर्बल की रक्षा करने के लिए ही ब्रह्मा ने 'बल' अर्थात् दण्ड की सृष्टि की है और यह दण्ड राजा में प्रतिष्ठित रहता है[८१] अतः दण्ड की सहायता सेहर तरह की आपत्तियों से प्रजा की रक्षा करना और उसे कल्याण

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के मार्ग पर आगे बढ़ाना राजा का प्रधान कर्तव्य है। शान्तिपर्व में 'राजा' शब्द की व्युत्पत्ति 'रञ्ज्' (प्रसन्न करना) धातु से मानते हुए 'प्रजा का रंजन करने वाले को राजा' कहा गया है।[८२] राजा शब्द की दूसरी परिभाषा देते हुए शान्तिपर्व फिर कहता है कि 'जिसमें धर्म विराज रहा है वही राजा है'[८३] इन दोनों परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि धर्मपूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए प्रजा को सुखी और संतुष्ट रखने वाला ही राजा है। राजा की यह परिभाषा ही उसकी लोकरंजक प्रवृत्ति का परिचायक है।[८४] प्रजा-पालन और प्रजा-रक्षण राजा के प्रमुख कर्तव्य माने गए हैं। प्रजा-रक्षण के लिए युद्ध करना आवश्यक था जिसमें मृत्यु भी सम्भव थी अतः प्राचीन धर्मशास्त्रियों ने क्षत्रिय का प्रधान कर्तव्य युद्ध करना और सबसे बड़ा आदर्श समरांगण में मर जाना माना है। 'क्षत्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति 'क्षत्' तथा 'त्रै' धातुओं से बताते हुए शान्तिपर्व[८५] उसकी व्याख्या उस व्यक्ति के रूप में करता है 'जो नाश या व्रण से रक्षा करता है।'[८६] इस प्रकार प्रजा-रक्षण का दायित्व क्षत्रिय की परिभाषा से ही अंकुरित होता है। प्रजा-रक्षण के इस महान कर्तव्य का पालन करने में क्षत्रिय को अपने प्राणों की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। प्रजा-रक्षण के लिए युद्ध करते-करते मर जाना राजाओं के लिए महान धर्म है[८७] और ऐसे राजा मृत्यु के बाद स्वर्ग के सुखों का उपभोग करते हैं।[८८] सैनिकों को भी युद्ध करते-करते मर जाने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है। युद्ध-भूमि से पलायन करने वाला योद्धा अपने स्वामी के भी पापों का फल भोगता है और उसके द्वारा उपार्जित पुण्यों का लाभ स्वामी प्राप्त कर लेता है।[८९] राज्य राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है, वह राजा के हाथों प्रजा की धरोहर है। राजा उसका स्वामी नहीं, बल्कि प्रजा की रक्षा और उसके कल्याण के लिए राज्य को यथोचित ढंग से संचालित करने वाला सेवक मात्र है।[९०] अतः प्रजा की हर तरह की आपत्तियों से रक्षा कर उसे कल्याण के मार्ग पर ले-जाना राजा का प्रधान कर्तव्य है। राजा का शरीर आमोद-प्रमोद के लिए नहीं बना है बल्कि वह कर्तव्य-पालन और पृथ्वी की रक्षा के लिए कष्ट सहने के उद्देश्य से बना है।[९१] राजा की व्यक्तिगत इच्छा प्रजा की इच्छा के सामने कोई महत्व नहीं रखती। राज्य को लोककल्याणकारी घोषित करते हुए कौटिल्य ने स्पष्ट कहा है

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

"प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित है। अपना कल्याण राजा के लिए हितकारी नहीं होता बल्कि प्रजा का कल्याण उसके लिए अधिक हितकारी होता है।"[९२] 'जो राजा अपनी प्रजा कीं भरपूर रक्षा करता है, वह सम्पूर्ण धर्मों का ज्ञाता है। उसे किसी अन्य धर्म का पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसे न तप करने की आवश्यकता है, न यज्ञ करने की।[९३] उसके लिए संग्राम में जूझना ही यज्ञ की दीक्षा, राज्य की रक्षा में दण्डनीति का सम्यक् पालन ही योग और यज्ञ में दक्षिणा के रूप में धन का त्याग तथा उत्तम रीति से दान करना ही त्याग है।[९४] प्रजा की रक्षा न करने से बढ़कर राजा के लिए कुछ भी पाप नहीं है।[९५] जो राजा कर लेकर भी प्रजा की रक्षा नहीं करता वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।[९६] राजा के प्रमाद दोष से लुटेरे प्रबल होकर प्रजा को सताते हैं, ऐसी स्थिति में यदि राजा ने प्रजा को शरण नहीं दी तो वह राजा 'मूर्तिमान कलियुग' कहा जाता है।[९७] राजा द्वारा अरक्षित प्रजा जो कुछ भी पाप करती है उसका आधा फल राजा को भोगना पड़ता है क्योंकि राजा रक्षा करने के लिए ही प्रजा से कर लेता है।[९८] जो राजा रक्षा करने के योग्य पुरुषों की रक्षा करता है वही राजा राजाओं में शिरोमणि है, जो राजा रक्षणीय पुरुषों की रक्षा नहीं कर सकता, उनकी जगत में कोई आवश्यकता नहीं।[९९] ऐसा राजा मृतकतुल्य माना गया है।[१००] वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है क्योंकि प्रजापीड़न के संताप की अग्नि उसके कुल, शोभा तथा प्राणों को नष्ट किये बिना नहीं शान्त होती।'[१०१]

क्षात्रधर्म की यह अवधारणा योद्धाओं को एक विशिष्ट कोटि का व्यक्ति बना देती है। उनके आचरण का मूल्यांकन उन मूल्यों के आधार पर नहीं किया जा सकता जिनके आधार पर जनसामान्य के चरित्र को आंका जाता है। जनसाधारण के द्वारा पालनीय नैतिक गुणों का समावेश सामान्य धर्म के अन्तर्गत किया गया है। यह सामान्य धर्म मानव-मात्र का धर्म है और प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होता है। मनुष्य होने के नाते वह योद्धा पर भी लागू होता है, ब्राह्मण पर भी, वैश्य पर भी और शूद्र पर भी।[१०२] मनुष्य होने के साथ-साथ चूँकि ये व्यक्ति विभिन्न सामाजिक वर्णों के भी सदस्य हैं इसलिये वर्णगत धर्म इनका विशिष्ट धर्म है जिसे वर्ण-धर्म कहा जाता है।[१०३]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राजा और योद्धा के वर्ण-धर्म के अतिरिक्त कुछ और धर्म होते हैं जिन्हें क्रमशः राजधर्म और क्षात्रधर्म की संज्ञा दी जाती है। ये धर्म दायित्वविशेष से सम्बन्धित होने के कारण 'गुणधर्म' कहे जाते हैं।[१०४] इनमें से क्षात्रधर्म की कुछ बातें सामान्य धर्म के विरुद्ध जाती हैं, जैसे योद्धा के वीरतापूर्वक युद्ध करने का कर्तव्य सामान्य धर्म की अहिंसा के विपरीत जाता है। सत्य वचन, दया आदि इसी प्रकार युद्ध में अपनाये गये छल-छद्म तथा क्रूरता का विपर्यय उपस्थित करते हैं। स्पष्ट है कि योद्धा एक साथ ही दोनों धर्मों का निर्वाह नहीं कर सकता। उसे या तो एक से च्युत होना पड़ेगा या दूसरे से। सामान्य धर्म से च्युत होकर क्या वह मानवता के स्तर से भी गिर जाता है[१०५] अथवा उसका चरित्र अतिमानवीय होने के कारण सामान्य धर्म के अन्तर्गत आता ही नहीं?[१०६]

शान्तिपर्व के अभीष्ट मत को न तो व्यक्ति की नैसर्गिक अच्छाई में कोई सन्देह है और न उसके चरित्र में वर्तमान दुष्टता की प्रवृत्ति में। यदि व्यक्ति की स्वाभाविक अच्छाई में उसे सन्देह होता तो राज्य के उद्भव के पहले के युग की कल्पना स्वर्णकाल के रूप में न की गई होती।[१०७] दूसरी तरफ यदि मानव-चरित्र में वर्तमान दुष्टता की प्रवृत्ति में उसे सन्देह होता तो अराजक के सन्दर्भ में मात्स्यन्याय की उद्भावना न की गई होती।[१०८] मानव-स्वभाव की नैसर्गिक शुद्धता को बढ़ावा देने के लिए सामान्य धर्म के अन्तर्गत आने वाले नैतिक गुणों का वातावरण होना चाहिये तो मात्स्यन्याय की प्रवृत्ति से बचने के लिए दुष्टदमन की व्यवस्था भी आवश्यक बन जाती है। दुष्टदमन के लिए बल प्रयोग आवश्यक है, हिंसा आवश्यक है। अतः लोकरंजन केवल मानव-समाज की नैसर्गिक अच्छाई के बल पर नहीं किया जा सकता, यद्यपि वह उसका एक आवश्यक तथा अनिवार्य आधार है। दुष्ट-निग्रह के लिए धार्मिक हिंसा और बल-प्रयोग का अधिकार किसी-न-किसी को देना होगा। यह अधिकार सामाजिक आवश्यकता से उत्पन्न होता है और वही सामाजिक हित इस हिंसा और बल प्रयोग से होने वाले सामान्य धर्म के अतिक्रमण को अनुमोदनीय भी बना देता है।[१०९] योद्धा जब तक इस सामाजिक दायित्व का वहन करता है, वह वैयक्तिकता की सीमा से ऊपर उठकर सामाजिक हित का उपकरण बन जाता है और इसीलिए उसके द्वारा की गई हिंसा और सामान्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धर्म का अतिक्रमण आपत्तिजनक नहीं होता।[११०] लेकिन अपने सामान्य जीवन में योद्धा भी एक व्यक्ति ही होता है और सामान्य धर्म की सीमाओं में बँधा होता है। सामाजिक दायित्व का वहन करते समय वह क्षात्र-धर्म के आदर्शों से प्रेरित होता है, व्यक्तिगत स्वार्थलाभ और लोलुपता से नहीं। इसलिए हिंसा के क्षणों में भी वह संयमी होता है और मानसिक रूप से सामान्य धर्म के मूल्यों का पालन करता रहता है। हिंसा करते हुए भी वह हिंसा नहीं करता, छल-छद्म करते हुए भी वह छल-छद्म नहीं करता। वह तो समाज के न्यायिक नियंत्रण का निमित्त मात्र होता है।[१११]

क्षात्रधर्म की उपर्युक्त विवेचना यह प्रदर्शित करती है कि शान्तिपर्व उसे दुष्ट-निग्रह के माध्यम से धर्म और न्याय की स्थापना के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए आवश्यक मानता है।[११२] वह एक सामाजिक दायित्व है जिसका वहन योद्धाओं को अपने व्यक्तिगत आचरण की नैतिक पूर्णता की कीमत पर भी करना पड़ता है।[११३] लेकिन चूँकि उसके बिना सामाजिक व्यवस्था ही खतरे में पड़ सकती है, धर्म का स्थान अधर्म ले सकता है, न्याय अन्याय में बदल सकता है, सारी मर्यादायें समाप्त हो सकती हैं। इसलिए उस नैतिक पूर्णता से ही क्या लाभ जो पूरे समाज में व्यवस्थाहीनता का स्रोत बन जाय ? क्या अधार्मिकता, अन्याय और समस्त मर्यादाओं के अभाव में व्यक्ति की नैतिक पूर्णता सम्भव हो सकती है ? योद्धा इस प्रकार अपने क्षात्रधर्म का पालन करते हुए व्यक्ति की चारित्रिक उत्कृष्टता व नैतिक पूर्णता को सम्भव बनाता है और स्वयं भी अपने व्यक्तिगत जीवन में इन आदर्शों को पूरी तरह उतारने की चेष्टा करता है।[११४] वह अपने को इनसे ऊपर नहीं समझता और इनका विधाता भी नहीं समझता।[११५] वह तो इन्हें लागू करना अपना धर्म समझता है और इसके लिए यदि आवश्यक हो तो हिंसा और बल प्रयोग भी करता है। समाज में मर्यादा की स्थापना और लोकरंजन जैसे कार्य भी उसी के बलिदानों के परिणामस्वरूप ही सम्पन्न होते हैं लेकिन इन बलिदानों के बदले योद्धा को क्या मिलता है ? राज्य और वैभव का उपभोग जो लोकरंजन और लोकव्यवस्था के दायित्वों के साथ उसे प्राप्त होते हैं क्या उसके जीवन की चरम उपलब्धि प्रस्तुत करते हैं ? क्या ये ही उसके परमार्थ हैं या इनके आगे भी वह कुछ प्राप्त कर सकता है ?

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन भारतीय दर्शन के इतिहास में मूल्यवर्ग के अन्तर्गत समय-समय पर श्रेयाश्रेय के द्वैत को स्थापित करने की चेष्टा की गयी है। उपनिषदों में प्रेय और श्रेय की दो कोटियों में पुरुषार्थ को विभाजित किया गया है। प्रेय के अन्तर्गत लौकिक उपलब्धियों का समावेश किया गया है तथा श्रेय के अन्तर्गत आध्यात्मिक उपलब्धियों का।[११६] बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रवर्तकों ने लौकिक उपलब्धि को आत्मिक उपलब्धि के समक्ष तुच्छ और नगण्य सिद्ध किया है।[११७] इसमें कोई सन्देह नहीं कि आत्मिक उपलब्धि का स्रोत मनुष्य की नैसर्गिक शुद्धता में किया जाने वाला वह विश्वास है जिससे शान्तिपर्व भी असहमत नहीं है अतः शान्तिपर्व की दृष्टि में भी आत्मिक उपलब्धि एक आवश्यक पुरुषार्थ है, शायद उतना ही आवश्यक जितना कि लौकिक उपलब्धि।[११८] बिना इसके व्यक्ति को सर्वस्व-लाभ का बोध नहीं होता, अपनी उपलब्धियों की परमता का बोध नहीं होता। योद्धाओं के बलिदान द्वारा स्थापित लोक-व्यवस्था और लोकरंजन के वातावरण में इस चरम उपलब्धि का मार्ग औरों के लिए तो प्रशस्त हो जाता है, उनके मार्ग की बाधायें हट जाती हैं, चरित्र की नैतिक पूर्णता को प्रोत्साहन मिलता है लेकिन क्या योद्धा स्वयं भी उसे प्राप्त कर सकता है या उसे अपने जीवन के सर्वस्व-बोध से भी वंचित रखकर सामाजिक दायित्व उससे एक इससे भी बड़े बलिदान की आशा रखता है ? सामान्यतया आत्मिक उत्कर्ष को उपलब्धि की सीमा तक पहुँचाने के लिए जिस मार्ग से होकर गुजरना पड़ता है उसमें न तो हिंसा होती है, न छल-छद्म होता है; न लिप्सा होती है और न चरित्र के वे सारे दोष होते हैं जो एक योद्धा को क्षात्रधर्म निभाने के लिए बरबस अपने चरित्र में लाने पड़ते हैं। उसका मार्ग ही और है जिस पर यदि योद्धा चलने लगे तो वह योद्धा नहीं रह जायेगा और यदि वह योद्धा रहता है तो उस मार्ग पर चल नहीं सकता। ऐसी परिस्थिति में दो ही विकल्प शेष रह जाते हैं, या तो योद्धा द्वारा किया गया स्वधर्म-पालन ही उसके लिए आत्मिक उत्कर्ष का साधन मान लिया जाय या फिर उसे परमार्थ से सर्वथा वंचित कर दिया जाय।[११९] शान्तिपर्व दूसरे विकल्प को प्रस्तुत करने का साहस नहीं करता और पहला वह तार्किक असंगति के कारण प्रस्तुत नहीं कर सकता क्योंकि जो लक्ष्य नैतिक पूर्णता के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है वह योद्धा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को चरित्र की अनैतिकताओं से कैसे मिल सकता है ? इस समस्या का समाधान शान्तिपर्व में योद्धा के अन्तर्गत मनुष्यत्व की भूमिका को उभारकर किया गया है। योद्धा हर समय योद्धा नहीं होता, अपने जीवन के अधिकांश समय में वह उस चारित्रिक पूर्णता को अपने जीवन में उतार सकता है जो आत्मिक उपलब्धि तक पहुँचाती है। योद्धा की भूमिका निभाते समय भी यदि वह स्वयं को उस पूर्णता से च्युत न मानकर कर्तव्यनिष्ठा के साथ उस नैतिक पूर्णता का अतिक्रमण भी करता है तो उसका वह कार्य उसे आत्मिक उपलब्धि के मार्ग से अलग नहीं करता। प्रश्न केवल दृष्टिकोण का है, यदि कमल का पत्ता पानी में रहते हुये भी पानी से लिप्त हुये बिना अपनी शुद्धता बनाये रख सकता है[१२०] तो हिंसात्मक वातावरण में रहता हुआ भी योद्धा अपनी नैतिक पूर्णता बनाये रख सकता है। गीता का निष्काम कर्म-योग इस विरोध को समाप्त करता है और परमार्थ को योद्धा के लिये भी सम्भव बनाता है।

———

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. मैक्समूलर, एफ. एन्शिएन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० १८

२. हापकिन्स, ई. डब्लू., द सोशल एण्ड मिलिटरी पोजीशन ऑव द रूलिंग कास्ट्स इन एन्शिएन्ट इन्डिया, वाराणसी, १९७२; पृ० १२६

३. 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धि सो धर्मः।' वैशेषिक सूत्र, १.१.३; मुकर्जी, राधा कमल, इण्डियन स्कीम ऑव लाइफ, पृ० २०

४. केनी. एल. बी., प्रेसीडेन्शियल ऐड्रेस, प्रोसीडिंग्स ऑव द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, ३४वाँ अधिवेशन, १९७३, चण्डीगढ़ पृ० १३–२९; राधाकृष्णन, एस०, द स्पिरिट ऑव रिलिजन, दिल्ली, १९७८, पृ० ५९

५. शान्तिपर्व (बी. ओ. आर. आई. संस्करण) पूना १९७३, अध्याय ७.३

६. शान्ति०, अध्याय १ और ७

७. क्षात्रधर्म का शाब्दिक अर्थ है क्षत्रिय का धर्म जिसके अन्तर्गत युद्ध और राज्य-संचालन प्रमुख धर्म (कर्तव्य) माने गये हैं। शान्तिपर्व में क्षात्रधर्म का प्रयोग योद्धा-धर्म तथा राज्य-धर्म के सम्मिलित अर्थों में किया गया है। महाभारत काल में प्रत्येक योद्धा के लिये क्षत्रिय होना उसी प्रकार अनिवार्य नहीं था, जिस प्रकार प्रत्येक क्षत्रिय के लिये राजा होना। महाभारत में अनेक ऐसे योद्धाओं के प्रमाण मिलते हैं, जो क्षत्रिय नहीं थे। उदाहरणार्थ—कर्ण, द्रोण तथा कृप। इन सभी योद्धाओं (क्षत्रिय तथा क्षत्रियेतर) के लिये क्षात्रधर्म का प्रयोग ही किया गया है, जो योद्धाधर्म के विशेष सन्दर्भ में है, और यही इस लेख का विवेच्य है। चूंकि योद्धा होना राजा की एक आवश्यक अर्हता थी इसलिए योद्धाधर्म के साथ ही राजधर्म को संक्षिप्त चर्चा भी प्रस्तुत लेख में क्षात्रधर्म के अन्तर्गत आ गयी है। अंग्रेजी में क्षात्रधर्म के लिए दो शब्द प्रयुक्त किये

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जाते रहे हैं—'Heroic Ethics' तथा Ethics of War इनमें Heroic Ethics के सन्दर्भ में ही क्षात्रधर्म की व्याख्या यहाँ अभीष्ट है।

८. इस प्रयास की पृष्ठभूमि बहुत कुछ सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन की पृष्ठभूमि से मिलती है। किन्तु युद्ध के यथार्थ से उठने वाली समस्याओं से जजर जीवन-दर्शन के स्थान पर सार्त्र ने यदि एक नया जीवन-दर्शन दिया तो शान्तिपर्व के विचारक परम्परागत जीवन-दर्शन के स्वीकृत मूल्यों को नये परिप्रेक्ष्य में फिर से प्रतिष्ठित करते हैं।
द्रष्टव्य—इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, जिल्द—१४, पृ० ६६३; शाही, योगेन्द्र, अस्तित्ववाद—किर्कगार्द से कामू तक, दिल्ली, १९७५, पृ० ४-५, १५०

९. काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द—३, पृ० ७ तथा जिल्द—२, पृ० ६, टिप्पणी २२, पूना, १९७३; कामसूत्र—१.२०

१०. त्रिपाठी, पी. वी., पुरुषार्थ-चतुष्टय, वाराणसी, १९७०, पृ० १४

११. अर्थशास्त्र, (सं०) आर. पी. कांगले, बम्बई, १९७०, १५.१.१

१२. रामायण (बड़ोदा संस्करण), ५.४१.२–३; याज्ञवल्क्य-स्मृति (चौखम्भा सं०) (अनु०) डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय, १.३४६;

१३. शान्ति०, ६९.२२–२३; मनुस्मृति (चौखम्भा सं०) (अनु०) हरगोविन्द शास्त्री, ७.१९८, २००; याज्ञ०, १.३४६; तथा कामंदकीय नीतिसार, १८.१

१४. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, रेडी रिफरेन्स एण्ड एण्डेक्सेस, जिल्द ५, पृ० २

१५. सभापर्व (बी. ओ. आर. आई. सं०), ६२. ३६–३७, ६८.

१६. उद्योगपर्व (" " " " ") अध्याय, ९३.

१७. शान्ति०, १.२८

१८. उद्योग०, १३९, १३–१७, १४४.११–१८.

१९. शान्ति०, १.१९–२१,२८.

२०. कर्वे, इरावती, युगान्त, दिल्ली, १९७४, पृ० १२९.

२१. सभा०, ६२.१–२१

२२. महाभारत युद्ध में जयद्रथवध, द्रोणवध, भीष्मवध और दुर्योधनवध आदि पाण्डवों के छल के अनेकों प्रमाण हैं।
द्रष्टव्य—द्रोणपर्व अध्याय ७ तथा १२१ और शल्यपर्व अध्याय, ५७;

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पाण्डेय, राजबली, भारतीय नीति का विकास, पटना, १९६५, पृ० ७७
मजूमदार, ए० के०, इकनामिक बैकग्राउन्ड ऑव इपिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९७७, पृ० ३०

२३. शान्ति०, १५.३०, ५९.१४

२४. अर्थ०, १.४.१३-१४; मनु०, ७.२०; शान्ति०, १५.३०

२५. शान्ति०, ५९.१४

२६. प्रकाश, ओम, पोलिटिकल आइडियाज़ इन द पुराण, इलाहाबाद, १९७७, पृ० ८९

२७. बृहदारण्यक उपनिषद, १.४.१४

२८. विष्णुपुराण, १.७.२०; मनु० ७.१४

२९. शान्ति०, ६३.२५

३०. धर्म का अतिक्रमण करने के कारण ही नहुष को दैवी राज्य से हाथ धोकर अजगर बनना पड़ा। (महाभारत, ५.१५.२४, १३.१०२.२६); हापकिन्स, ई. डब्लू., एपिक माइथालोजी, न्यूयार्क, १९६९, पृ० १३; हिल्टबीटल, आल्फ, "नहुष इन द स्काइज़ : ए ह्यूमन किंग ऑव हेवेन" हिस्ट्री आव रिलिजन, जिल्द १६, सं० ४, १९७७, पृ० ३३६

नहुष की भाँति अपने अविनय के कारण राज्यभ्रंश भोगने वाले कितने ही अन्य राजाओं के नाम मनु ने गिनाये हैं।—
मनु०, ७.४१

३१. प्रकाश, ओम, पो० आइ० इन द पु०, पृ०, ४२-४३

३२. मेयर, विलियम जे., "पोलिटिकल इथिक्स एण्ड पोलिटिकल अथार्टी", "इथिक्स", जिल्द—८६, १९७५, पृ० ६२

३३. मैकियावेली जैसे मूल्यनिरपेक्ष विचारक ने भी "प्रिंस" में राजा को परम्परागत रिवाजों (धर्मों) का अतिक्रमण न करने की सलाह दी है और अपने को आकस्मिक परिस्थितियों तक ही सीमित रखने को कहा है।

द प्रिंस एण्ड द डिसकोर्सेस, (स०) मैक्स लर्नर, न्यूयार्क, पृ० ५

३४. कौटिल्य जैसे विचारक (जिसे कुछ विद्वान मूल्यनिरपेक्ष भारतीय विचारक मानते हैं) के सन्दर्भ में प्रो० जे. एस. नेगी का कथन है कि मैकियावेली

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की स्थिति कौटिल्य के लिए अर्थहीन बन जाती है क्योंकि कौटिल्य में साधन को साध्य से पूरी तरह अलग नहीं किया जा सकता।
द्रष्टव्य, नेगी, जे. एस., सम इण्डोलाजिकल स्टडीज़, जिल्द—१, इलाहाबाद, १९६६, पृ० ३२

३५ शान्ति०, ६९.२२–२३; मनु०, ७.१९८, २००; याज्ञ०, १.३४६; कामन्दक०, १८.१
३६. शान्ति०, २३.१०
३७. शान्ति०, ६९.२२-२३, मनु०, ७.१९८, २००; याज्ञ०, १.३४६; शुक्र०, ४.२१९
३८. काणे, हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र (हि० अनु० अर्जुन काश्यप चौबे)—द्वितीय भाग, लखनऊ, १९७३, पृ० ६६१
३९. शान्ति०, १५.१२; अर्थ०, १.४.१६
४०. मनु०, ७.१५
४१. शान्ति०, १५.३३–३४; मनु०, ७.२२
४२. शान्ति०, १५.२; मनु०, ७.१८
४३. शान्ति०, १५.३; अर्थ०, १.४.११; कामन्दक०, २.३८
४४. शान्ति०, १५.३३; मनु०, ७.२४
४५. शान्ति०, १५.९; काम०, २.१५
४६. शान्ति०, १४.१४.
४७. शान्ति०, १४.१६.
४८. वही, १४.१७.
४९. वही, ६४.२०–२१.
५०. वही, ६४.३१.
५१. वही, ६०.१७.
५२. अर्थ०, १.४.३; मनु०, ७.९९, १०१; याज्ञ०, १.३१७; काम०, १.१८; १३.५७.
५३. याज्ञ०, १.३२४.
५४. शान्ति०, ९८.२३, २८; शुक्र०, ४.३०४.
५५. शुक्र०, ४.३२८.
५६. मनु०, ७.९४–९५,
५७. शान्ति०, ७.३–८.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

५८. वही, ८.१७.

अर्जुन की 'अर्थ' सम्बन्धी विचारधारा प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एलफ्रेड मार्शल की विचारधारा से मेल खाती है जिसके अनुसार 'अर्थ' के बिना मनुष्य का जीवन असम्भव सा हो जाता है। यद्यपि धर्म का महत्व अर्थ से किसी भी प्रकार कम नहीं है तथापि जहाँ धर्म का अभाव किसी सीधी प्रतिक्रिया को जन्म नहीं देता वहाँ 'अर्थ' के अभाव की प्रतिक्रिया स्पष्ट और कष्टकारक होती है। धर्म का अतिक्रमण हो जाने पर प्रायश्चित के द्वारा उसका सुधार हो सकता है किन्तु 'अर्थ' के अभाव में मनुष्य की जीवनयात्रा ही अवरुद्ध होने लगती है।

मार्शल, ए., एलीमेन्ट्स ऑव इकनॉमिक्स, जिल्द—१, लंदन, १९३२, पृ० १–२.

मजूमदार, ए० के०, इकनामिक बैकग्राउण्ड ऑव इपिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९७७, पृ० ४०.

५९. शान्ति०, ८.१८.

६०. शान्ति०, ८.२०.

६१. वही, ८.४–५

६२. वही, ८.२५, २८.

६३. वही, ८.२६–२७.

६४. वही, ८.२८.

६५. वही, ८.३३–३५.

६६. वही, २०.१०.

६७. गीता, ३.९–१४; पाण्डे, गोविन्द चन्द, स्टडीज इन द ओरिजिन ऑव बुद्धिज्म, इलाहाबाद, १९५७, पृ० २७१; हापकिन्स. ई० डब्लू०, द रिलिजन्स ऑव इण्डिया, दिल्ली, १९७०, पृ० १८८, १९१; मैकडानल, ए० ए०, वैदिक माइथोलॉजी, दिल्ली, १९७४, पृ० १९४.

६८. मनु अपूर्ण यज्ञ की पूर्ति के लिए वैश्य तथा शूद्र के धन को चोरी या बलात्कार से भी प्राप्त करने को उचित ठहराते हैं।

मनु०, ११.११–१५.

६९. शान्ति०, ८.२५,२८.

७०. पाण्डे, स्टडीज इन द ओरिजिन ऑव बुद्धिज्म, पृ० २६०.

७१. कठोपनिषद, १.२१.

७२. कर्वे, इरावती, युगान्त, पृ० ६६.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

७३. शान्ति०, अध्याय, ७, ६ तथा १७.
७४. भिक्षु दृष्टि के अनुसार ज्ञातिवध को दोषपूर्ण मानने के निर्णय को गीता में भी नपुंसकता माना गया है। गीता, २.२–३.
७५. सिनहा, बी० पी०, 'आर्ट ऑव वार इन एन्शिएन्ट इण्डिया', 'स्टडीज इन द कल्चरल हिस्ट्री ऑव इण्डिया', आगरा, १९६५, पृ० ११७.
७६. रिचर्ड फिक की धारणा में बौद्धधर्म के पलायनवादी दृष्टिकोण के कारण भारतीय समाज का स्वरूप उसकी लोकप्रियता के बावजूद बिल्कुल नहीं बदल पाया।
फिक, रिचर्ड, द सोशल आर्गनाइजेशन इन द नार्थ ईस्टर्न इण्डिया, कलकत्ता, १९२०, पृ० ३०–३१.
७७. शान्ति०, ८४, ७.
७८. अर्थ०, १.१९.
७९. शान्ति०, १०.२.
८०. वही, ५७.११
८१. वही, ९२.११; मनु०, ७.१७.
८२. शान्ति०, ५९.१२७.
८३. वही, ९१.१२.
८४. काणे, हि० ऑव धर्म० (हि० अनु०), भाग—२, पृ० ७०२.
८५. शान्ति०, ५९.१२८.
८६. काणे, हि० ऑव धर्म० (हि० अनु०), भाग—२, पृ० ५९०.
८७. शान्ति०, ५८.२३.
८८. मनु०, ७.८९; याज्ञ०, १.३२४.
८९. मनु०, ७.९४–९५.
९०. अर्थ०, १०.१३, १.६; काणे, हि० ऑव धर्म० भाग—३, पृ० २७.
९१. राज्ञां शरीरग्रहणं न भोगाय महीपते।
क्लेशाय महते पृथ्वी स्वधर्म परिपालने॥ मा० पुराण, १३०.३३–३४.
९२. अर्थ०, १.१९.
९३. शान्ति०, ६६.७१.
९४. वही, २६.३२.
९५. वही, ५७.६०.
९६. मनु०, ७.१११; याज्ञ०, १.३४०.
९७. शान्ति०, १२.२७.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

९८. याज्ञ०, १.३३६.

९९. शान्ति०, ९०.१०.

१००. मनु०, ७.१४३.

१०१. याज्ञ०, १.३४१.

१०२. पाण्डेय, राजबली, भारतीय नीति का विकास, पृ० ८; सिंह, रणजीत, धर्म की हिन्दू अवधारणा, इला०, १९७७, पृ० ६२, ६३.

१०३. काणे, हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द—१, भाग—१. पूना, १९६८, पृ० ४; पाण्डेय, राजबली, भारतीय नीति का विकास, पृ० ९.

१०४. आयंगर, के० वी० आर०, कृत्यकल्पतरु का राजधर्म काण्ड, बड़ोदा, १९४३ भूमिका, पृ० ३.

१०५. युधिष्ठिर का सारा तर्क यह सिद्ध करने का प्रयास है कि मनुष्य को मनुष्यता के स्तर से गिरा देने के कारण ही क्षात्रधर्म निन्दनीय तथा त्याज्य है।

शान्ति०, ७.२—८.

१०६. भारतीय चिन्तन धारा में कहीं-कहीं अतिमानवीयता के आधार पर धर्म (सामान्य धर्म) के अतिक्रमण को भी न्यायपूर्ण ठहराने की चेष्टा की गयी है।

भागवत पु०, १०.३३.३० तथा आगे;

प्रकाश, ओम, पोलिटिकल आइडियाज इन द पुराण, पृ० ११८, पादटिप्पणी—३.

१०७. शान्ति०, ५९.१४.

१०८. वही, ११.३०; अर्थ०, १.४.१३, १४; मनु०, ७.२०.

१०९. "द कैपसिटी ऑव ऐन अथार्टी टू वर्क इन्जरी टू सम ऑव इट्स सब्जेक्ट्स रेस्ट्स होल्ली एण्ड एक्सक्लुसिवली आन द इसेन्शियल एडवांटेज कॉनफर्ड बाइ ऐन एग्रीगेट"—

बर्ट्रेन्ड, डि जुवेनेल, सावरिनिटी, शिकागो, १९५७, पृ० २४.

११०. शान्ति०, ११०.१०, २४.

१११. तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व,
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव,
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ गीता. ११.३३,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

११२. गीता के निम्न उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि सामाजिक नियंत्रण की यह योजना वस्तुतः सृष्टि-नियमन की दैवी योजना का ही एक अंग है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ।। गीता, ४.८.

११३. इसका एक उदाहरण महाभारत की वह कथा है जिसके अनुसार ब्राह्मण की गायों की दस्युओं से रक्षा करने के लिए अर्जुन को अपनी वचनबद्धता भंग कर शस्त्र लेने के लिए उस स्थान पर जाना पड़ता है जहाँ द्रौपदी के साथ युधिष्ठिर एकान्तवास कर रहे थे। इसके अतिरिक्त युधिष्ठिर का अश्वत्थामा के मरने की झूठी खबर देकर द्रोण का वध करना, अर्जुन के साथ युद्धरत भूरिश्रवा की दोनों बाहें सात्यकि के द्वारा पीछे से जाकर काट लेना आदि कितने ही अनैतिक कृत्य इस धर्म युद्ध में अन्याय के प्रतिकार स्वरूप पाण्डवों की ओर से किए गए।

११४. गीता, १६.१–३.

११५. जिन-जिन राजाओं ने अपने को धर्म से ऊपर समझने की धृष्टता की उनके विनाश की अनेक कथायें प्राचीन भारतीय साहित्य में बिखरी हुई हैं जिनमें से अधिकांश स्वयं महाभारत में ही वर्णित हैं। उनकी सूची मनु तथा कामन्दक ने दी है। मनु०, ७.४१; काम०, १.१४, ५६, ५७. इन उदाहरणों के बावजूद कुछ विद्वान राजा को धर्म अथवा कानून का स्रोत मानने की दलील देते हैं। इनकी दलील में यदि कोई सत्य है तो वह केवल तथ्यात्मक स्तर पर ही हो सकता है, अवधारणात्मक स्तर पर नहीं।

डेरेट, जे० डी० एम०, रिलिजन, ला एण्ड स्टेट इन एन्शिएन्ट इण्डिया, लंदन, १६६८, पृ० १६५–१६६;

लिंगात, आर०, क्लासिकल ला ऑव इण्डिया (अंग्रेजी अनु० जे० डी० एम० डेरेट) लंदन, १६७३, पृ० २२८.

११६. कठोपनिषद, १.२.१.

११७. कोंजे, एडवर्ड, बुद्धिज्म : इट्स एसेन्स एण्ड डेवलपमेन्ट, लंदन, १६५७, पृ० २१–२२,

११८. इसका सबसे प्रबल प्रमाण शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व का समावेश है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

११९. यूनानी संसार में दुःखान्त नाटकों का मूल उत्स वस्तुतः दूसरों के हित के लिए अपने स्वार्थों को नकार कर योद्धाओं द्वारा किया जाने वाला आत्म-बलिदान ही था। हेराक्लीज की यातनायें और प्रोमैकियस का बलिदान दैवी योद्धाओं के आत्मत्याग व दूसरों के लिए किए गए आत्मबलिदानों के जीवन्त उदाहरण हैं।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, जिल्द ४, पृ० १०३६ तथा जिल्द—८, पृ० २३७.

१२०. गीता, ५.१०

———

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वैयक्तिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा और उसकी प्राप्यता

यूनानी विचारधारा में मनुष्य को 'राजनीतिक पशु'[1] मानने के कारण मानव-जीवन का चरम लक्ष्य समाज और राज्य जैसी संस्थाओं का विकास करना माना गया है[2] और नीति इस उच्चतम लक्ष्य (Summun bonum) की प्राप्ति के लिये मार्ग प्रशस्त करती है[3], यही कारण है कि यूनानी दर्शन में नीति का अन्तिम स्वरूप राजनीति से अभिन्न हो जाता है।[4] भारतीय विचारधारा, इसके विपरीत, राजनीति को नीति का एक अंग-मात्र स्वीकार करती है। नीति, भारतीय विचारधारा में, 'धर्म' से अभिन्न[5] मानी गयी है और उसका अन्तिम उद्देश्य मानव-जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति कराना है।[6] यह उच्चतम लक्ष्य भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है। त्रिवर्ग के तीनों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ काम—में से हर एक को अलग-अलग विचारधारा के लोगों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से जीवन के उच्चतम लक्ष्य के रूप में अवधारित करने का प्रयास किया है[7] किन्तु उल्लेखनीय है कि मानव-जीवन की व्यापकता को त्रिवर्ग की सीमा तक ही रखकर देखना भारतीय दर्शन के विषय में जानकारी के अभाव को ही द्योतित करता है। भारतीय दर्शन का क्षेत्र त्रिवर्ग के भौतिक धरातल तक ही सीमित नहीं है, यह तो उसके विकास की अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था है जो पूर्ववैदिक काल तक ही देखने को मिलती है। अपनी पूर्णता में तो वह भौतिक जगत का अतिक्रमण कर सम्पूर्ण ब्रह्मांड को अपनी व्यापकता में समाविष्ट कर आध्यात्मिक जगत की सर्वोच्चता में अभिव्यक्त होता है।[8] मानव-जीवन का अंतिम लक्ष्य भी इस प्रकार, त्रिवर्ग की ऐहलौकिक परिधि का अतिक्रमण कर 'मोक्ष' की पारलौकिकता में स्थित हो जाता है और नीति इस अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के रूप में सामने आती है। मोक्ष के रूप में यह पार-लौकिक उपलब्धि ऐहलौकिक उपलब्धियों का नकार (Negation) नहीं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है, यह तो त्रिवर्ग के विकास का वह चरम स्तर है जिसकी प्राप्ति में ही त्रिवर्ग की सार्थकता निहित है।[९] भारतीय दर्शन में इस प्रकार नीति अथवा धर्म वह है जिससे 'अभ्युदय' (सांसारिक उत्कर्ष) तथा 'निःश्रेयस' (आध्यात्मिक उत्कर्ष) दोनों की ही सिद्धि संभव हो,[१०] मानव-जीवन का अंतिम लक्ष्य, इस प्रकार भारतीय विचारधारा में, भौतिक जगत की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी, पारलौकिक हो जाता है और इसके साथ ही साथ यूनानी विचारधारा के परमशुभ (Summun bonus) की तरह सामाजिक अथवा राजनीतिक न रहकर वैयक्तिक हो जाता है क्योंकि मोक्ष पूरी तरह से एक वैयक्तिक उपलब्धि है जिसे व्यक्ति अपने ही प्रयासों से प्राप्त कर सकता है; समाज और राज्य इसकी प्राप्ति में उसकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकते। अधिक से अधिक उनकी इतनी ही उपादेयता कही जा सकती है कि मोक्षमार्ग पर अग्रसर होने वाले व्यक्ति के लिए वे न्यूनतम स्तर पर आवश्यक वातावरण का निर्माण करते हैं। इससे अधिक और कुछ करना उनकी स्थिति के बाहर है। उनकी सारी सीमायें त्रिवर्ग तक ही सीमित हैं, चतुर्वर्ग उनकी परिधि से बाहर है। नीति अथवा धर्म का सूत्र ही केवल इन दोनों छोरों को जोड़ सकता है और इसीलिए उसकी व्यापकता में ये दोनो ही समाहित हो जाते हैं। भौतिक जगत पर जहाँ एक ओर प्राक्-सामाजिक 'व्यक्ति' की वैयक्तिकता का विस्तार कर धर्म उसे 'व्यक्ति' से 'मनुष्य' बनाता है[११] और इस क्रम में समाज और राज्य जैसी संस्थाओं का विकास करता है, वहीं दूसरी ओर मनुष्यता के चरम उत्कर्ष तक पहुँचा कर वह उसे फिर वैयक्तिक उपलब्धि का आकांक्षी बना देता है किन्तु उल्लेखनीय है कि 'मनुष्य की' वैयक्तिकता का यह स्वरूप 'व्यक्ति' की प्राक्-सामाजिक 'वैयक्तिकता' नहीं है जिसका वर्णन भारतीय पुरावृत्तों में कृतयुग अथवा सत्ययुग[१२] के वर्णनों में प्राप्त होता है, यह तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' को जान लेने के बाद की वह विराट वैयक्तिकता है जिसमें मनुष्य की सारी सामाजिकता और सारी धार्मिकता समाविष्ट होकर उसके जीवन को पूर्णता प्रदान करती हैं।[१३] यही मोक्ष है, यही वैयक्तिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा है और यही इस अध्याय का विवेच्य है।

शाब्दिक दृष्टि से 'मोक्ष' शब्द का अर्थ होता है 'मुक्ति'[१४] अतः जिस परमपद को पाकर जीव सभी प्रकार के बन्धनों से हमेशा के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लिए मुक्त हो जाता है, वही मोक्ष है।[१५] मोक्ष की कल्पना उत्तर वैदिक है किन्तु उल्लेखनीय है कि उपनिषदों में मोक्ष को मात्र दुःखाभाव के रूप में नहीं वर्णित किया गया है।[१६] उपनिषदों का मोक्ष सुख-दुःख आदि सांसारिक वर्ण्यविषयों से परे वह परम स्थिति है जहाँ इन सांसारिक व्यापारों का जरा भी प्रवेश नहीं है।[१७] उपनिषदों में जगत के परम तत्व के लिए दो शब्द प्रयुक्त किये गये हैं—ब्रह्मन् और आत्मन्। इनमें ब्रह्मन् बाह्य जगत का चरम स्रोत है तथा आत्मन् मनुष्य के अन्दर रहने वाला चैतन्य है।[१८] अपनी पूर्णता में आत्मन् ब्रह्मन् का ही एक अंश है और उसकी चरम परिणति ब्रह्म में ही विलीन हो जाना है।[१९] यही उपनिषदों का मोक्ष है जिसे भारतीय विचारधारा में जीवन का उच्चतम लक्ष्य अवधारित किया गया है तथा जो पूरी तरह एक वैयक्तिक उपलब्धि है। ब्रह्म का स्वरूप उपनिषदों में दो प्रकार का मिलता है—सप्रपञ्च तथा निष्प्रपञ्च।[२०] सप्रपञ्च ब्रह्म अपने भीतर सम्पूर्ण सृष्टि को समाविष्ट करता है। इस असीम ब्रह्मांड में जो कुछ भी है, वह सब ब्रह्म ही है, उससे परे और कुछ नही है।[२१] निष्प्रपञ्च ब्रह्म, इसके विपरीत सृष्टि के साथ ही सम्पूर्ण सत्तात्मक अस्तित्वों से परे और ज्ञान के स्तर पर उनके निषेध द्वारा विवेच्य है।[२२] ब्रह्म का यह निष्प्रपञ्च स्वरूप उपनिषदों में 'नेति-नेति' पुकारा गया है[२३] किन्तु 'नेति-नेति' का तात्पर्य ब्रह्म को नकारना नही है उसका मतलब सिर्फ इतना है कि ज्ञान की सभी क्षमतायें और उसके समस्त स्वरूप उस परम तत्व का बोध कराने मे नितान्त अपर्याप्त है।[२४] सप्रपञ्च ब्रह्म जहाँ सर्वग्राही है, निष्प्रपञ्च ब्रह्म सर्वाग्राही। यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, उसी में स्थित रहता है और अन्त में उसी में विलीन हो जाता है इसी लिए ब्रह्म के लिए उपनिषदों में 'तज्जलान' शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[२५] आत्मन् उसी मूलभूत विराट चेतना का एक अंश है[२६] जो अपनी स्वाभाविक स्थिति में पूर्णतः निर्दोष और निर्विकार होता है[२७] किन्तु मोह अथवा अज्ञान के कारण वह सांसारिक विषयों के प्रति आसक्त हो जाता है। यह आसक्ति उसे कर्म करने को विवश करती है और किए हुए कर्मों के फल भोगने के लिए उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है जब तक कि कर्मफल का भोग पूरी तरह समाप्त न हो जाय। कर्मबन्धनों के नष्ट हो जाने पर आत्मन् अपने स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप को पहचान लेता है और फिर उस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विश्वात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है जहाँ से उसका पुनरागमन नहीं होता।[२८] यही मोक्ष है। मोक्ष की इस अवधारणा में उसके सकारात्मक पक्ष पर दिया गया बल बौद्धों के निर्वाण[२९] की व्याख्या में उसके निरोधात्मक पक्ष की प्रबलता से मेल खाता है। यही कारण है कि कभी-कभी 'मोक्ष' और 'निर्वाण' में परस्पर विरोधी अवधारणाओं की प्रतीति होती है और ऐसा लगता है कि निर्वाण की अपेक्षा मोक्ष अधिक व्यापक और सांसारिक द्वन्द्वों से परे अनन्त आनन्द की स्थिति है।[३०]

शान्तिपर्व के दार्शनिक कलेवर में मोक्ष की यह औपनिषदिक अवधारणा अपनी पूर्णता के साथ प्रकट होती है और शान्तिपर्व की सम्पूर्ण विषयवस्तु को अपने रंग में रंगती हुई त्रिवर्ग की भौतिकता और मानव-जीवन की सारी सामाजिकता को आत्मसात् कर वैयक्तिकता के विराट् आवरण के नीचे ढँक देती है। वास्तव में शान्ति-पर्व का प्रारम्भ ही होता है जीवन के उच्चतम लक्ष्य की खोज से और खोज की इस प्रक्रिया में शान्तिपर्वकार ने जहाँ एक ओर युधिष्ठिर के संकुचित व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को आलोचना की है[३१] वहीं सांसारिक विषयों में ही जीवन की सर्वोच्च सार्थकता ढूँढ़ने वालों की विचारधारा का खण्डन किया है।[३२] युधिष्ठिर के संकुचित व्यक्तिवादी तथा अर्जुन के नितान्त सामाजिकतावादी विचारधाराओं का समन्वय कर शान्तिपर्व ने वैयक्तिकता का ऐसा विराट स्वरूप प्रस्तुत किया है जिसमें मनुष्य की सारी सामाजिकता समाहित होकर अपनी सार्थकता प्राप्त करती है।[३३] वैयक्तिकता का यह विराट स्वरूप शान्तिपर्व में कहीं तो ईश्वर के रूप में वासुदेव-कृष्ण[३४] और विष्णु-नारायण[३५] आदि बनकर आता है तो कहीं ब्रह्म के नाम से एक अमूर्त्त सत्ता का रूप ग्रहण करता है।[३६] मानव-जीवन का चरम उत्कर्ष इसी विराट वैयक्तिकता में अपने को विलीन कर देना है जो सिर्फ व्यक्ति के रूप में ही संभव हो सकता है, 'मनुष्य' के रूप में नहीं।[३७] मानव-जीवन का उच्चतम लक्ष्य अपने अन्तिम स्वरूप में, इस प्रकार, वैयक्तिक जीवन की पराकाष्ठा के रूप में सामने आता है और उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं।

जीवन के उच्चतम लक्ष्य के रूप में मोक्ष को अवधारित कर शान्तिपर्व उसके स्वरूप का विशद विवरण प्रस्तुत करता है और अपने इस विवरण में उसने तत्कालीन सभी विचारधाराओं के समायोजन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का प्रयास किया है जिसके कारण ऊपर से देखने पर कहीं-कहीं उसके वर्णन अन्तर्विरोध की भ्रान्ति भी देते हुए दिखायी देते हैं किन्तु गहराई से अध्ययन करने पर किसी प्रकार के अन्तर्विरोध की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती और मोक्ष का परम्परागत भारतीय स्वरूप अपने सुस्पष्ट रूप में सामने आ जाता है; किन्तु मोक्ष को जीवन का उच्चतम लक्ष्य स्वीकार करने के बावजूद उसके स्वरूप को लेकर शान्तिपर्व एकदम निश्चित नहीं हो सका है। भारतीय विचारधारा में प्राप्त मोक्ष की दो स्थितियाँ शान्तिपर्व में भी देखने को मिलती है। मोक्ष की प्रथम स्थिति मृत्यु के बाद आत्मन् के ब्रह्मन् अथवा परमात्मन् में विलय की स्थिति है।[३८] इस विचारधारा के अनुसार मोक्ष मृत्यु के बाद ही सम्भव है जिसके लिए मुमुक्षु कर्मत्याग और नैतिक सद्गुणों के पालन के द्वारा आजीवन प्रयास करता रहता है। दूसरी विचारधारा के अनुसार मोक्ष मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाली कोई पारलौकिक स्थिति नहीं है। वह जीवनकाल में भी सम्भव है।[३९] इस विचारधारा के अनुसार चूँकि कर्मों के बन्धन ही व्यक्ति के लिए मोक्षमार्ग में बाधक होते हैं इसलिए यदि इनसे मुक्ति मिल जाय तो मोक्ष की प्राप्ति मृत्यु के पूर्व जीवनकाल में ही सम्भव हो सकती है किन्तु कर्मबन्धन से छुटकारा पाने के लिए कर्मत्याग आवश्यक नहीं है, वह तो एक अव्यावहारिक कदम है;[४०] आवश्यक है कर्म में से वासना अथवा कामना का त्याग। कामनारहित होकर किए जाने वाले कर्म व्यक्ति को बाँधते नहीं।[४१] ऐसा व्यक्ति कर्म को कर्तव्यभाव से करता है, फल की इच्छा से नहीं। जब मनुष्य सांसारिक वासनाओं और कामनाओं से मुक्त हो जाता है तब संसार के नानात्व को देखता हुआ भी वह उससे प्रभावित नहीं होता 'क्योंकि वह अपने अनुभव में उन सबकी एकता को जान चुका होता है।' 'जब हृदय की सारी कामनायें समाप्त हो जाती हैं तब मनुष्य अमर हो जाता है और इस लोक में ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[४२] यही मोक्ष है।[४३] शान्तिपर्व में मोक्ष की ये दोनों ही स्थितियाँ साफ-साफ दिखायी देती हैं किन्तु दूसरी स्थिति निश्चित रूप से अधिक स्पष्ट है और उसी के प्रति सम्भवतः शान्तिपर्व का आग्रह भी है।[४४] 'जो आसक्तिरहित होकर भी आसक्त की भाँति विचरण करता है; जो संगरहित एवं सब प्रकार के बन्धनों को तोड़ चुका है, तथा शत्रु और मित्र में जिसका समान भाव है, वह सदा मुक्त है।'[४५] 'जैसे कछुआ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अपने अंगों को समेट लेता है उसी प्रकार जब मनुष्य अपनी सभी कामनाओं को सभी ओर से समेट लेता है तो उस समय तुरन्त ही ज्योतिस्वरूप आत्मा उसके अन्तःकरण में प्रकाशित हो जाता है।'[४६] 'जब मनुष्य किसी से भी भय नहीं मानता और जब दूसरे प्राणी भी उससे भय नहीं मानते तथा जब वह काम (राग) और द्वेष को जीत लेता है, तब अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।'[४७] 'जब वह मन, वाणी और कर्म द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों में से किसी के साथ न तो द्रोह करता है, न किसी की अभिलाषा करता है तब वह परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है।'[४८] 'जिसके मान और मोह दूर हो गये हैं, जो नाना प्रकार की आसक्तियों से रहित है तथा जिसे आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह साधु पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेता है।'[४९] शान्तिपर्व जनक और व्यास को ऐसे ही आदर्श के रूप में प्रस्तुत करता है जिन्होंने अपने जीवनकाल में ही मोक्ष प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार मोक्ष को जीवनपर्यन्त कर्मत्याग के द्वारा मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाली काल्पनिक स्थिति से ऊपर उठाकर शान्तिपर्व, लौकिक कार्य-व्यापारों को करते हुए जीवनकाल में ही प्राप्तव्य बना देता है[५०] और आध्यात्मिक स्तर पर मानवीय चेतना के संतुष्टि-बोध को जीवन का उच्चतम लक्ष्य मानते हुए भी व्यावहारिक धरातल पर भौतिक जगत के महत्व को कम नही होने देता, बल्कि मोक्ष को भौतिक जगत की परिधि में लाकर कर्म-जगत के महत्व को कुछ बढ़ा ही देता है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है शान्तिपर्व का प्रणयन प्रवृत्ति और निवृत्तिमूलक दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय द्वारा प्राचीन परम्पराओं की कमियों को दूर कर उन्हें एक नये आवरण में प्रस्तुत करने का एक प्रयास था जो महाभारत युद्ध के रूप में कौरवों-पाण्डवों के बीच हुए गृहयुद्ध में विजयी पक्ष के नेता युधिष्ठिर के विजय के उपरान्त प्राप्त होन वाले राज्य तथा लौकिक सुखभोगों के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए उन्हें ठुकराकर सन्यास और अपरिग्रह के माध्यम से मोक्षप्राति को जीवन का उच्चतम लक्ष्य अवधारित करने के उद्गारों से प्रारम्भ होता है। वास्तव में व्यावहारिक जीवन की जटिलताओं के मध्य निवृत्तिपरक जीवन-दर्शन के मूल्यांकन का यह पहला प्रयास था जहाँ लौकिक जीवन की विवशतायें और उन्हें नकारने वाले निवृत्तिमूलक सिद्धान्त आमने-सामने खड़े कर दिये गये

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थे। लोक-व्यवस्था को दाँव पर लगाकर विवशतामूलक दायित्वों से पलायन की स्वार्थनिष्ठता, केवल व्यक्तिगत शान्ति के लिए, इससे पहले या इसके बाद कहीं भी इतनी उभर कर सामने नहीं आ पायी थी।[५१] लोक-व्यवस्था तथा व्यक्तियों के विवशतामूलक दायित्वों के निर्वाह की समष्टि के हित में अनिवार्यता, शान्तिपर्व का अकाट्य तर्क है जो प्रवृत्ति और निवृत्ति की इन दोनों परस्परविरोधी विचारधाराओं के समन्वय की अनुपेक्षणीय आवश्यकता पर बल देता है। मनुष्य यदि अपनी व्यावहारिक और लौकिक विवशताओं का शिकार न होता तो उसका और उसके समाज का स्वरूप कैसा होता ? इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर शान्तिपर्व में प्राक्-राज्य युग में मानव-समाज की उस स्वर्णिम कल्पना के माध्यम से दिया गया है जिसमें 'न राजा था, न राज्य; न दण्ड था, न दाण्डिक। लोग अपनी सहज धार्मिक प्रवृत्ति द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते थे।[५२] इसी कल्पना को कहीं अधिक विस्तार के साथ पुराणों में विवशताहीन मानव-जीवन की आत्मनिर्भर परिस्थिति में मानवस्वभाव को धर्माधर्म की सीमा से भी ऊपर की अच्छाई से युक्त सिद्ध करने का साधन बनाया गया है।[५३] मानव-जीवन में इस पौराणिक मिथक के अनुसार, बुराई का इतिहास भौतिक जीवन की विवशताओं से प्रारम्भ होता है।[५४] भौतिक उपलब्धि-बोध का भी शायद इन विवशताओं के सामान्य सन्दर्भ से सीधा सम्बन्ध है। लोक-व्यवस्था की रक्षक तथा संस्थापक अर्थशक्ति तथा अर्थशक्ति की निरंकुशताओं को नियंत्रित करने वाली धर्मशक्ति का आविर्भाव भी इन्हीं विवशताओं से सन्दर्भित होता है।[५५] शान्तिपर्व में 'दण्ड' अर्थ-शक्ति की निरंकुशता को नियंत्रित करने वाली धर्मशक्ति का एक स्वरूप है जो अव्यवस्था और अराजकता का दमन कर व्यवस्था की स्थापना के लिए उद्भूत होता है और अपनी दमनकारी प्रवृत्ति के कारण ही 'दण्ड' कहलाता है।[५६] वह शक्ति का स्रोत है। उसके भय से सभी अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं और समाज में व्यवस्था बनी रहती है। समाज में न्याय और धर्म की व्यवस्था बनाए रखने और बलवानों के अत्याचारों से निर्बलों की रक्षा करने के लिए दण्ड 'अर्थशक्ति' अथवा 'राजशक्ति' के रूप में प्रकट होता है किन्तु सबसे अधिक शक्तिशाली होने पर भी शान्तिपर्व उसे निरंकुश सत्ता के रूप में नहीं रहने देता। धर्मशक्ति उसे नियंत्रित करती है और धर्म का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अतिक्रमण करने पर वह अपने आपको नष्ट कर डालता है। समाज में धर्म-व्यवस्था के विधायक ऋषियों द्वारा मंत्रपूत कुशों के द्वारा वेन की हत्या शान्तिपर्व के इसी सत्य का उद्घाटन करती है। अर्थशक्ति और धर्मशक्ति द्वारा प्रदत्त व्यवस्थायें, इस प्रकार, मानव-जीवन की विवशताओं को व्यवस्थित करने की विवशतायें हैं जिन्हें न तो पूरी तरह नकारा जा सकता है और न ही जीवित रहते हुए उनसे पूरी तरह मुक्त हुआ जा सकता है,[५७] अतः इन विवशताओं को एक व्यवस्थित क्रम में बाँधकर उनका निर्वाह करना ही एकमात्र विकल्प बचता है और यह अर्थशक्ति तथा धर्मशक्ति के माध्यम से ही सम्भव हो पाता है। त्रिवर्ग की अर्थवत्ता इस प्रकार इन विवशताओं को व्यवस्थित करके बनाए जाने वाले मूल्य-जगत में ही है। यदि त्रिवर्ग को ही मानव-जीवन की चरम उपलब्धि मान लिया जाय तो यह विवशताओं को मानव-स्वभाव के ऊपर स्थान देना होगा। शान्तिपर्व इससे सहमत नहीं होता।[५८] उसके अनुसार त्रिवर्ग अधिक से अधिक विवशताओं के कुप्रभावों से व्यक्ति और उसके समाज की रक्षा करता है। जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में त्रिवर्ग के उपलब्धि की दिशा नकारात्मक है।[५९] विवशताओं के कुप्रभावों को नकारने के अतिरिक्त त्रिवर्ग का और क्या मूल्य है? त्रिवर्ग विवशताओं के प्रारम्भ से प्रारम्भ होता है और उनकी समाप्ति के साथ समाप्त हो जाता है। सब मिलाकर वह एक साधनमात्र है[६०] जो मानव-स्वभाव की एक परिस्थिति-विशेष में उत्पन्न होता है और उस परिस्थिति से मनुष्य की रक्षा करने के सीमित सकारात्मक उद्देश्य को पूरा करता है। उसके बाद क्या बचता है? मानव और उसका स्वभाव! इस स्वभाव-बोध की उपलब्धि विवशताओं के दायरे से ऊपर उठे बिना नहीं हो सकती और विवशताओं के दायरे के ऊपर त्रिवर्ग के किले के अन्दर रहते हुए नहीं उठा जा सकता इसलिए चरम को प्राप्त करने के लिए अवर का मोह छोड़ना होगा। चौथे वर्ग की उपलब्धि के लिए त्रिवर्ग को नकारना होगा। नकार को नकारने पर ही सकारात्मक का बोध हो सकता है।

शान्तिपर्व में मोक्षप्राप्ति के लिए सन्यास और वैराग्य के पक्ष में अत्यन्त प्रबल विचारधारा देखने को मिलती है जिसका परिचय शान्तिपर्व के प्रारम्भिक अध्यायों से ही मिलने लगता है और जो उसके

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सम्पूर्ण कलेवर को अपने रंग में रंगती हुई सी विद्यमान रहती है। युधिष्ठिर[61] के तर्कों से प्रारम्भ होकर वैराग्यपरकता की यह धारा मोक्षधर्मपर्व के अन्तर्गत सेनजित-ब्राह्मण-सम्वाद,[62] ब्राह्मण शम्पाक के उपदेश,[63] मङ्किगीता,[64] बोध्यगीता,[65] आजगर-वृत्ति[66] की प्रशंसा तथा जनक-नहुष-सम्वाद[67] आदि में अपनी पूर्णता को प्राप्त करती हुई सी दिखायी देती है किन्तु दूसरी ओर यह भी पूरी तरह सत्य है कि शान्तिपर्वकार ने इस विचारधारा की एकांगिता को भी काफी स्पष्ट रूप में उभारा है। मोक्ष को जीवन का उच्चतम लक्ष्य मानने में शान्तिपर्व को कोई आपत्ति नहीं है और उसके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व का समावेश इसका स्पष्ट प्रमाण है तथापि मोक्ष के नाम पर कर्म-पलायन उसे स्वीकार नहीं है।[68] मोक्ष पूरी तरह से एक वैयक्तिक उपलब्धि है किन्तु किसी एक व्यक्ति के पूर्णता प्राप्त कर लेने से लोक-व्यवस्था और लोक-व्यापार की समस्यायें (जो लौकिक जगत की वास्तविकतायें हैं) हल नहीं हो जातो इसलिए शान्तिपर्व वैयक्तिक पूर्णता को प्राप्त करने के लिए किसी को भी सामाजिक दायित्वों का बलिदान करने की छूट नहीं देता। समष्टिगत हित व्यष्टिगत हित से, चाहे वह कितना ही बड़ा हो, ज्यादा बड़ा है इसलिए उसे नकारा नहीं जा सकता।[69] व्यष्टिगत हित और समष्टिगत हित के बीच का यह विरोधाभास शान्तिपर्व के परम्परागत दृष्टिकोण में चतुराश्रम की समन्वयात्मक व्यवस्था के द्वारा दूर कर दिया गया है। चतुराश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थाश्रम के द्वारा शान्तिपर्व व्यक्ति को पहले अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करने के लिए प्रेरित करता है और तब वानप्रस्थ और अन्ततः सन्यास आश्रम में उसे वैयक्तिक उत्कर्ष को इस पराकाष्ठा तक पहुँचने के लिए इन दायित्वों से मुक्त कर देता है।[70] यद्यपि ऋषि पिता-पुत्र की कथा के द्वारा तथा कुछ अन्य भी छिटपुट प्रसंगों में शान्तिपर्व में यह कहने का प्रयास किया गया है कि जब भी संसार की निस्सारता व्यक्ति की समझ में आ जाय, उसे सन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए[71] किन्तु इन्द्र और ऋषि बालकों के संवाद में,[72] जनक और उनकी पत्नी की बातचीत[73] युधिष्ठिर और व्यास[74] आदि के विवादों और शान्तिपर्व की सम्पूर्ण विषयवस्तु में गृहस्थाश्रम की केन्द्रीयता[75] और महत्व के देखने पर स्पष्ट रूप से पता चल जाता है कि शान्तिपर्व का आग्रह चारो आश्रमों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के कर्तव्यों के क्रमशः पालन द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयास करने पर है।[७६] चतुर्वर्ग के इस चरम मूल्य की प्राप्ति के लिए त्रिवर्ग के मूल्यों का विरोध शान्तिपर्व नहीं करता क्योंकि मोक्ष के सर्वोच्च अध्यात्मिक धरातल से नीचे सही, भौतिक धरातल पर त्रिवर्ग के ये मूल्य जीवन की वास्तविकतायें हैं जिन्हें चाहते हुए भी कुछ सीमा तक नियंत्रित तो किया जा सकता है, पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता।[७७]

त्रिवर्ग के मूल्यों से चतुर्वर्ग के इस मूल्य की भिन्नता का प्रबलतम आधार यह है कि जहाँ मानव स्वभाव के किसी भी धरातल पर बोध होने पर इन मूल्यों की प्राप्ति का प्रयास अपेक्षित और एक आदर्श होता है, चतुर्वर्ग के मूल्य की स्वभावबोध के साथ ही प्राप्ति का प्रयास एकदम अव्यावहारिक है क्योंकि उच्चतम स्तर का स्वभावबोध व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति की दिशा में अग्रसर अवश्य करता है किन्तु संसार और कर्म की निस्सारता को स्पष्ट कर उसका त्याग करने की प्रेरणा देता है[७८] और इस प्रकार लोक-व्यापार का 'अस्तित्व-संकट' उपस्थित कर देता है। स्वभाव-बोध के इस उच्चतम स्तर पर, इसलिए संसार की दुःखमयता और कर्म-जगत की निस्सारता को जानते हुए भी लोक-संग्रह की दृष्टि से कर्म की अनिवार्यता समझकर शान्तिपर्व असमय के सन्यास को ढोंग, सामाजिक पलायन और कर्तव्य-भ्रष्टता के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं मानता।[७९] कर्म-सन्यास की अव्यवहारिकता तथा मोक्षमार्ग में कर्म की बाधकता के इन दो किनारों को शान्तिपर्व ने निष्काम कर्मयोग के सेतु द्वारा मिला दिया है और प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्गों के इस समन्वय[८०] द्वारा न तो वैयक्तिक पूर्णता के रूप में मोक्ष की परमता पर आघात किया है और न इस नितान्त वैयक्तिक हित के लिए लोक-जीवन और लोक-व्यवस्था को दाँव पर लगने दिया है। जीवन के इस परमशुभ की 'परमता' को सुरक्षित रखते हुए इस प्रकार, अन्य अवर मूल्यों की शुभता पर भी उसने कोई आँच नहीं आने दिया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मोक्ष की शान्तिपर्व की अवधारणा नितान्त रूप से एक वैयक्तिक उपलब्धि है किन्तु तथ्य जगत पर व्यक्ति को अनिवार्य रूप से एक सामाजिक प्राणी मानने के कारण शान्तिपर्व इस वैयक्तिक उपलब्धि की भी सामाजिक उपादेयता की उद्भावना

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किए बिना नहीं रह पाता। त्रिवर्ग तक की उपलब्धियां तो पूरी तरह व्यक्ति की सामाजिकता का पोषण करती ही हैं, चतुर्वर्ग का भी अपनी सारी वैराग्यमूलकता के बावजूद एक सामाजिक पक्ष है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील मुमुक्षु की सारी भौतिक आवश्यकतायें समाज से ही पूरी होती है।[८१] जीवित रहकर ही वह मोक्षप्राप्ति का प्रयास कर सकता है और जीवित रहने के लिए भोजन एक अनिवार्य आवश्यकता है जो उसे समाज से ही प्राप्त होता है। यद्यपि सन्यासी के रूप में मुमुक्षु प्रत्यक्षतः समाज से कटकर रहता है फिर भी परोक्ष-रूप से समाज से उसका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में कायम भी रहता है। जहाँ अपनी जीविका के लिए वह समाज द्वारा दी गयी भिक्षा पर निर्भर रहता है, वहीं दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रूप से समाज के अन्य सदस्यों के लिए वह प्रेरणा का एक स्रोत भी हो जाता है। मोक्षमार्ग के लिए अनिवार्य साधन के रूप में निष्काम कर्मयोग का व्यावहारिक स्वरूप मुमुक्षु ही समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है।[८२] जीवन के इस चरम लक्ष्य की प्राप्यता और उसके लिए आवश्यक साधन की व्यावहारिक अभिव्यक्ति–इन दो लक्ष्यों में मुमुक्षु की सामाजिकता शान्तिपर्व स्वीकार करता है और युधिष्ठिर जब बड़े-बड़े राजाओं की तुलना में उन ऋषि-मुनियों के अनुसरण को अधिक श्रेयस्कर बताते हैं[८३] जिन्होंने त्याग, तपस्या और स्वाध्याय के बल पर मोक्ष प्राप्त कर लिया तो उनके कथनों में मुमुक्षु को आदर्श मानने की वही प्रेरणा झलकती है जो उसकी सामाजिकता को पुष्ट करती है। जीवन के उच्चतम लक्ष्य की आवश्यकता की यही आधारभूमि है जिसे शान्तिपर्व वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से अनिवार्य मानता है और मोक्ष के रूप में उसे स्थापित करता है।

जीवन के उच्चतम लक्ष्य के रूप में वैयक्तिक उत्कर्ष की यह पराकाष्ठा शान्तिपर्व में एक काल्पनिक अवधारणा मात्र नहीं है। यह एक वास्तविक स्थिति है जो अत्यन्त दुष्प्राप्य अवश्य है किन्तु असंभव नहीं है। इसकी प्राप्यता संदेह का विषय नहीं है। यद्यपि शान्तिपर्व में एक दो स्थलों पर मोक्ष को मृत्योपरान्त प्राप्त होने वाली उपलब्धि मानकर उसकी प्राप्ति को संदेह का विषय बनाया गया है किन्तु इसके साथ ही 'जीवन्मुक्त' के आदर्श द्वारा जीवनकाल में ही मोक्ष-प्राप्ति को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संभव बनाकर शान्तिपर्वकार ने इस संदेह को निर्मूल भी कर दिया है। कम से कम व्यास और जनक का उदाहरण शान्तिपर्वकार के इस प्रयत्न को और भी सशक्त बना देता है। "भारतीय नीति की यह विशेषता रही है कि यह कर्त्तव्यों के विधान में व्यक्ति के बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास तथा उसके सामाजिक पर्यावरण का ध्यान रखती है। इसके अनुसार सभी के लिए एक ही लक्ष्य और एक ही मार्ग का अनुसरण वांछनीय नहीं है। जो कर्तव्य किसी सभ्य, सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए अनुकूल पड़ेगा, वह असभ्य अथवा अर्धसभ्य के लिए नहीं। इसीलिए विभिन्न मार्गों—ज्ञान, भक्ति एवं कर्म—की व्यवस्था की गयी है। अन्तिम ध्येय सबका एक ही है किन्तु आगे, पीछे और जीवन के विभिन्न मार्गों से वहाँ पहुँचना है। जिनकी प्रवृत्ति कर्म की ओर है, वे शुभ कर्म करके उच्चपद-स्वर्ग-प्राप्त करते हैं। यद्यपि स्वर्गफल सनातन नहीं है, वे चित्त-शुद्धि के द्वारा अपने ध्येय की ओर अग्रसर होते रहते हैं। जो भक्ति में अनुरक्त होते हैं, वे अपनी रागात्मक साधना से ब्रह्म-साक्षात्कार करते हैं और जो शुद्ध और प्रबुद्ध हैं वे सच्चे ज्ञान द्वारा ब्रह्मोपलब्धि और मोक्ष प्राप्त करते हैं।"[८४] भारतीय नीति की यह विशेषता तथा मोक्षप्राप्ति की इसकी त्रिमार्गीय व्यवस्था शान्तिपर्व में बड़ी सशक्तता के साथ उभरी है और सच पूछा जाय तो यही शान्तिपर्व की सम्पूर्ण सामग्री का हृदय है।

शान्तिपर्व को उसकी सम्पूर्णता में देखने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि शान्तिपर्व का रचनाकाल दो विरोधी—वैदिक तथा इतर वैदिक अथवा प्रवृत्तिमार्गी तथा निवृत्तिमार्गी-विचारधाराओं के संघर्ष का काल था। कर्मप्रधान वैदिकपरम्परा उपनिषदों की ज्ञानमीमांसा तथा बौद्धों के दुखःवाद के फलस्वरूप उद्भूत पलायनवाद के बढ़ते हुए प्रभावों के कारण कुंठित होने लगी थी।[८५] प्रवृत्तिमार्गीय वैदिक धर्म के विरोध की जो लहर प्रारम्भ में केवल हिंसाप्रधान यज्ञों, कर्मकाण्डों तथा सामाजिक विभेदों तक ही सीमित थी, परवर्तीकाल में कर्म-विरोध और सन्यास-मार्ग के प्रतिपादन का प्रमुख आधार बन गयी। शान्तिपर्व में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनमें संसार और सांसारिक भोगों की नश्वरता सिद्ध करते हुए कर्म को मोक्ष प्राप्ति में बाधक मानकर वैराग्य और कर्मत्याग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।[८६] शान्तिपर्व के अर्न्तगत इस प्रकार के स्थलों की बहुलता ही इस विचारधारा को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तत्कालीन समाज की एक प्रमुख विचारधारा के रूप में मानने को विवश करती है। इस विचारधारा का सारांश इतना ही बताया जा सकता है कि अपने मूलभूत स्वरूप में जीव पूर्णत: शुद्ध और निर्दोष होता है किन्तु अविद्या अथवा अज्ञान के कारण उसमें वासनायें जागृत हो जाती हैं। वासनाओं की शान्ति के लिए वह कर्म करता है और किये हुए कर्मों के फल भोगने के लिए उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है। चूँकि इन सारी प्रक्रियाओं का मूल अज्ञान है अत: उसे ही नष्ट कर देने पर इस भवबाधा से मुक्ति मिल जायेगी और जीव मोक्ष प्राप्त कर लेगा।[८७] अज्ञान का नाश ज्ञान से ही संभव हैं और यह ज्ञान आत्मा के अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है जिसे पाकर जीव उस विश्वात्मा के साथ अपने सम्बन्धों को जान लेता है और उससे तादात्मय स्थापित करने का प्रयास करता है।[८८] आत्म स्वरूप का ज्ञान ही उसे संसार और सांसारिक ऐश्वर्य की दलदल:में फँसने से बचाता है और उसे मोक्षमार्ग पर अग्रसर करता है। इस स्थिति में पहुँचकर व्यक्ति काम, मोह, लोभ, क्रोध, राग, द्वेष आदि सारे मनोभावों से मुक्त हो जाता है, सांसारिक सुखभोग उसे आकर्षित नही कर पाते और इन सबसे विरक्त होकर वह मोक्षप्राप्ति का प्रयास करता रहता है। शान्ति-पर्व में ज्ञानमार्ग की इस परम्परा का प्रथम प्रस्फुटन युद्ध के पश्चात पश्चातापग्रस्त युधिष्ठिर के वक्तव्यों में देखने को मिलता है जब कि वे राजपाट छोड़कर सन्यास लेने को उद्यत होते हैं क्योंकि उनके अनुसार 'श्रुति का कथन है कि त्यागी पुरुष पाप नहीं कर सकता और (इसलिए) वह जन्म-मरण के बन्धन में भी नहीं फँसता। हे धनंजय उसे मोक्षमार्ग मिल जाता है और वह ज्ञानी एवं स्थिरबुद्धि मुनि द्वन्द्वरहित होकर तत्काल ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेता है।'[८९] 'श्रुति का कथन है कि परिग्रह से पाप ही हो सकता है'[९०] इसलिए परिग्रह से मुक्ति ही ज्ञानमार्ग की प्रथम सीढ़ी है। युधिष्ठिर कहते हैं कि 'मैं परिग्रह छोड़कर सारे राज्य और इसके सुखों को लात मारकर बन्धन-मुक्त हो शोक और ममता से ऊपर उठकर कहीं वन में चला जाऊँगा'[९१]...... 'मैं प्रिय–अप्रिय का सारा विचार छोड़ दूँगा। किसी के लिए न शोक करूँगा, न हर्ष; निन्दा और स्तुति को समान समझूँगा। आशा और ममता को त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाऊँगा तथा कभी किसी वस्तु का संग्रह नहीं करूँगा।'[९२] 'न तो जीवन का अभिनन्दन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करूँगा, न मृत्यु से द्वेष। यदि एक मनुष्य मेरी एक बाँह को बसूले से काटता हो और दूसरा दूसरी बाँह को चन्दनमिश्रित जल से सींचता हो तो न पहले का अमंगल सोचूँगा और न ही दूसरे की मंगल-कामना करूँगा। उन दोनों के प्रति समान भाव रखूँगा।'[९३] इसी प्रकार के वक्तव्य प्रह्लाद-अवधूत संवाद में प्राप्त होते हैं जहाँ प्रह्लाद के पूछने पर अवधूत आत्मज्ञानी की स्थिति का वर्णन करता है।[९४] इसके अतिरिक्त शान्तिपर्व में अन्य बहुत से स्थलों पर इस तरह के वक्तव्य प्राप्त होते हैं जिनमें मोक्षप्राप्ति के लिए ज्ञानमार्ग की सर्वोपरिता स्थापित करने का प्रयास किया गया है।[९५] भारतीय दर्शन के इतिहास में ज्ञानमार्गी परम्परा का प्रारम्भ उपनिषदों के काल से होता है जिनमें सर्वप्रथम वैदिक कर्मकाण्डों को प्रतीकात्मकता का आवरण देकर उन्हें आध्यात्मिक अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की गयी।[९६] वाह्य यज्ञ के स्थान पर उपनिषदों के ज्ञानमार्गी दर्शन ने 'अन्तर्यज्ञ' अथवा 'मनोयज्ञ' की महत्ता प्रतिपादित की।[९७] कठ-उपनिषद ने सर्वप्रथम अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रेय-श्रेय के द्वैत को उभारा और प्रेय पर श्रेय की वरीयता स्थापित की[९८] किन्तु ज्ञानमार्ग के इस पोषण के बावजूद उपनिषदों ने सन्यास पर जोर नहीं दिया।[९९] 'भौतिक जगत के परे एक शाश्वत सत्य को देखने और लक्ष्य मानने पर भी उपनिषदों में जीवन को नकारने की दृष्टि विरल रूप में ही पायी जाती है।'[१००] ज्ञानमार्ग की इस औपनिषदिक विचार-धारा में आगे चलकर कुछ निवृत्तिपरक इतरवैदिक धर्मों (उदाहरणार्थ बौद्ध एवं जैन) का भी समावेश हुआ और कालान्तर में कर्म-विरोध और संसार-त्याग इस विचारधारा के प्रमुख तत्व बन गए।[१०१] शान्तिपर्व में ज्ञानमार्ग का यह परवर्ती स्वरूप ही अधिक स्पष्ट होकर उभरा है। कर्म-विरोध, वैराग्य और संसार-त्याग के पक्ष में अत्यन्त प्रबल धारा शान्तिपर्व में प्रारम्भ से ही दिखायी देती है। युधिष्ठिर और भीमसेन के संवाद में युधिष्ठिर स्पष्ट रूप से इस विचारधारा का समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'यत्नशील साधक सभी विषयों का परित्याग कर सन्यास ग्रहण कर लेता है तो वह सन्तुष्ट हो जाता है किन्तु विषयभोगों से सम्पन्न समृद्धिशाली राजा कभी भी संतुष्ट नहीं हो पाते।'[१०२] 'जो लोग पत्ते खाकर रहते हैं, जो पत्थर पर पीसकर अथवा दाँतों से ही चबाकर भोजन करने वाले हैं तथा जो पानी या हवा पीकर रह जाते हैं, उन तपस्वी पुरुषों ने ही नरक पर विजय प्राप्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की है।[१०३] जो राजा इस सम्पूर्ण पृथ्वी का शासन करता है और जो सब कुछ छोड़कर पत्थर और सोने को समान समझने वाला है, इन दोनों में से त्यागी मुनि ही कृतार्थ होता है, राजा नहीं।'[१०४] 'महर्षिगण तपस्या तथा स्वाध्याय के बल पर देहत्याग के पश्चात ऐसे लोकों में पहुँच जाते हैं, जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं है।'[१०५] 'अतः मनुष्य को चाहिए कि मन को कल्याण के मार्ग में लगाकर तृष्णा को रोके और कर्मों की परम्परा का त्याग करके धन-जन आदि के अवलम्ब से दूर हो सुखी हो जाय।'[१०६] 'मोक्षमार्ग से चलने वाले पुरुष जिस गति का साक्षात्कार करते हैं, वह अनिर्देश्य है; अतः ज्ञानयोग ही सब साधनों में प्रधान एवं अभीष्ट है किन्तु उसके स्वरूप को समझना अत्यन्त कठिन है।'[१०७] 'हे कौन्तेय ! तत्ववेत्ता पुरुष तपस्या द्वारा महान पद को प्राप्त कर लेता है, बुद्धि (ज्ञानयोग) से उस परम तत्व को जान लेता है और त्याग के द्वारा सदा नित्य सुख का अनुभव करता रहता है।'[१०८] शान्तिपर्व में ज्ञानमार्ग इस प्रकार मोक्षप्राप्ति का अद्वितीय साधन बताया गया है और शान्तिपर्व में अध्याय के अध्याय इस विवेचन से भरे पड़े हैं। त्याग की महिमा के विषय में शम्पाक ब्राह्मण के उपदेश[१०९] मङ्किगीता अर्थात् धन की तृष्णा से दुःख और उसकी कामना के त्याग से परमसुख की प्राप्ति,[११०] ब्राह्मण और कुण्डाधार मेघ की कथा,[१११] माण्डव्य मुनि और जनक की बातचीत,[११२] अरिष्टनेमि का सगर को उपदेश[११३] आदि में स्पष्ट रूप से ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन करते हुए वैराग्य और सन्यास पर अत्यधिक बल दिया गया है और जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शान्तिपर्व में ज्ञानमार्ग का यह स्वरूप निश्चय ही परम्परागत औपनिषदिक विचारधारा के ऊपर निवृत्तिपरक धर्मों के प्रभाव का परिणाम था जो कर्म-प्रधान वैदिक धर्म के अनुयायियों के लिए स्वाभाविक रूप से असह्य था। यही कारण है कि शान्तिपर्व में कई स्थानों पर इसकी कटु आलोचना की गयी है और कर्म-परम्परा का परित्याग कर वैराग्य और सन्यास का प्रतिपादन करने वालों को ढोंगी, पाखण्डी और धर्मभ्रष्ट तक कहा गया है। ज्ञानमार्ग को इस आलोचना का कटुतम स्वरूप भीमसेन के शब्दों में देखने को मिलता है जिनके अनुसार 'सन्यास आपत्तिकाल में, वृद्धावस्था से जर्जर हो जाने पर अथवा शत्रुओं द्वारा धन-सम्पत्ति का नाश कर दिये जाने पर ही ग्रहण करना चाहिए। इन सबके बिना त्याग और सन्यास

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की विद्वान प्रशंसा नहीं करते, उल्टे उसे धर्म का उल्लंघन मानते हैं।' 'धर्म का बहाना लेकर अपने द्वारा केवल अपना पेट पालते हुए मौनी बाबा बनकर बैठ जाने से कर्तव्य-भ्रष्ट होना ही सम्भव है, जीवन को सार्थक बनाना नहीं।' 'सदा ही वन में रहने पर भी न तो ये मृग ही स्वर्गलोक पर अधिकार पा सके हैं, न सुअर और न पक्षी ही। पुण्य की प्राप्ति तो अन्य प्रकार से बतायी गयी है। केवल वनवास को ही श्रेष्ठ पुरुष पुण्यकारक नहीं बताते। यदि कोई राजा सन्यास से सिद्धि प्राप्त कर ले तो पर्वत और वृक्ष बहुत जल्दी ही सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि ये नित्य सन्यासी, उपद्रवशून्य, परिग्रहरहित तथा निरन्तर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए देखे जाते हैं।'[११४] भीमसेन के अतिरिक्त अर्जुन,[११५] द्रौपदी,[११६] नकुल,[११७] सहदेव[११८] आदि ने भी कर्म-विहीन ज्ञानमार्ग की आलोचना की है और कर्ममार्ग की प्रतिष्ठा को स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार ज्ञानमार्ग से मोक्ष-प्राप्ति सम्भव तो है किन्तु यह सिर्फ एक ही व्यक्ति की उपलब्धि होगी; समाज अथवा देश को इससे क्या मिलेगा ?[११९] मनुष्य एक वैयक्तिक प्राणी होने के साथ ही साथ एक सामाजिक प्राणी भी है। समाज में रहकर ही उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है। समाज ही उसे व्यक्ति से 'मनुष्य' बनाता है इसलिए समाज के प्रति भी उसके कुछ कर्तव्य होते हैं। इन कर्तव्यों का पालन एक अनिवार्य आवश्यकता है।[१२०] यदि सभी ज्ञानमार्ग का अवलम्बन कर कर्मत्याग ही करने लग जायेंगे तब तो सृष्टि का प्रवाह ही रुक जायेगा। सृष्टि के अनवरत प्रवाह के लिए कर्म आवश्यक है। संसार दुःखमय हो सकता है किन्तु दुःख के साथ सुख का होना भी अनिवार्य है।[१२१] ज्ञानमार्ग जहाँ वैयक्तिक स्तर पर दुःखमुक्ति का साधन है, वहीं कर्ममार्ग वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही स्तरों पर दुःख निवारण के साथ-साथ सुख-प्राप्ति का भी प्रयास करता है। ज्ञानमार्ग के घने आध्यात्मिक आवरण के बावजूद शान्तिपर्व में उसके विरोध की तीव्रता छिप नहीं सकी है और उतने ही जोरों से कर्ममार्ग के समर्थन का स्वर भी गूँजा है। राजधर्मानुशासनपर्व और आपद्धर्मपर्व तो पूरी तरह से कर्ममार्ग की परम्परा को ही समर्पित से हैं यद्यपि छिटपुट प्रसंगों के द्वारा उनमें ज्ञानमार्ग के प्रवेश को भी रोका नहीं जा सका है।

पूर्ववैदिक काल की सरलता और सादगी से प्रारम्भ होकर कर्म-मार्ग की परम्परा उत्तरवैदिक काल में आरण्यकों और ब्राह्मणों के काल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तक की जटिलता([१२१क]) से युक्त होकर उपनिषदों तथा तत्कालीन अन्य निवृत्तिपरक धर्मों के ज्ञानमार्गी विरोध से अपने को बचाती हुई शान्तिपर्व में अपने पूर्ण परम्परागत स्वरूप में दिखायी देती है यद्यपि इस समय तक 'कर्म' शब्द यज्ञयागादि के परिप्रेक्ष्य में अपने संकुचित अर्थ को छोड़कर सम्पूर्ण कर्मजगत की व्यापकता को समाविष्ट कर अभिव्यक्त होने लगा था।([१२१ख]) शान्तिपर्व में 'कर्म' का यह अर्थ और भी अधिक व्यापक होकर 'धर्म' अथवा 'कर्तव्य' को परिधि में आ जाता है और प्रत्येक स्थिति तथा अवस्था में व्यक्ति के कर्तव्यों को समाविष्ट कर लेता है। इन्द्र और ऋषि बालकों के संवाद में कर्मविहीन ज्ञानमार्ग की निन्दा करते हुए और कर्ममार्ग की स्थापना करते हुए इन्द्र स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'वैदिक कर्म ही स्वर्गलोक की प्राप्ति कराने वाले उत्तम मार्ग है। इसके सिवा मुनियों ने समस्त कर्मों को वैदिक मंत्रों द्वारा ही सिद्ध होने वाला बताया है। वेद में इन कर्मों का प्रतिपादन दृढ़तापूर्वक किया गया है इसलिए उन कर्मों के अनुष्ठान से यहाँ अभीष्ट सिद्धि होती है।'[१२२] 'जो मनुष्य कर्म की निन्दा करते हुए कुमार्ग का आश्रय लेते हैं, उन पुरुषार्थहीन मूढ़ पुरुषों को पाप लगता है। देवसमूह तथा पितृसमूहों का यजन तथा ब्रह्मवंश (वेदशास्त्र आदि के स्वाध्याय द्वारा) की तृप्ति—ये ही सनातन मार्ग हैं। जो मूर्ख इनका परित्याग करके किसी और मार्ग से चलते हैं, वे वेद-विरुद्ध पथ का आश्रय लेते हैं।'[१२३] भीमसेन तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'अकर्मण्य को कोई सिद्धि नहीं प्राप्त होती।'[१२४] कर्ममार्ग के इस प्रबल समर्थन के बावजूद शान्तिपर्व के विचारकों ने जीवन के उच्चतम लक्ष्य के रूप में मोक्ष प्राप्त कराने में उसकी सैद्धान्तिक असमर्थता को भी ध्यान में रखा है।[१२५] यद्यपि शान्तिपर्व में स्थान-स्थान पर कर्ममार्ग का उच्चतम आदर्श स्वर्ग तथा देवलोक की प्राप्ति बताया गया है[१२६] तथापि स्वर्ग के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाने वाले इस कर्ममार्ग को अनासक्त कर्ममार्ग से पृथक् करने की भी चेष्टा की गयी है।[१२६] इसका कारण सम्भवतः कर्मत्याग करके मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास करने वाले मुमुक्षुओं के भी भरण-पोषण का भार वहन करने वाले कर्म-परम्परा के अनुयायियों को जीवन के इस उच्चतम लक्ष्य से वंचित करने के अन्याय से बचाना था। इसीलिए कर्ममार्गियों के लिए भी मोक्ष को प्राप्तव्य बनाने का उपक्रम शान्तिपर्व में दिखायी देता है। यह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रयास निष्काम अथवा अनासक्त कर्म के सिद्धान्त के रूप में सामने आता है जिसमें ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग दोनों की अतियों को दूर कर उन दोनों के समन्वय द्वारा एक नयी विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है जिसका सैद्धान्तिक स्वरूप यद्यपि सर्वप्रथम गीता में दिखायी देता है[१२८] किन्तु शान्तिपर्व में इसका अधिक स्पष्ट और सुविकसित स्वरूप प्राप्त होता है। यह सिद्धान्त विश्व के संचालन और व्यवस्था के लिए कर्म की अनिवार्यता को तो स्वीकार करता है किन्तु उसके बन्धन से बचने के लिए उसकी आसक्ति का निषेध करता है। इसके अनुसार 'कर्म तो छूट नहीं सकता किन्तु उसकी बन्ध उत्पन्न करने की क्षमता नष्ट की जा सकती है। जिस प्रकार सर्प के दाँत तोड़ देने पर उसका विष नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कर्म से कामना अथवा वासनारूपी दंश निकाल देने से यह विषरहित और ग्राह्य हो जाता है।'[१२९] शान्तिपर्व में प्रतिपादित कर्ममार्ग की परम्परा प्रमुखतः 'निष्काम कर्ममार्ग' की परम्परा है जो नकुल,[१३०] सहदेव,[१३१] व्यास देवस्थान[१३२] आदि के वक्तव्यों से प्रारम्भ होकर शान्तिपर्व की सम्पूर्ण विषयवस्तु में अपना एक प्रमुख स्थान बना लेती है। निष्काम कर्ममार्ग की इस परम्परा में ज्ञानमार्ग के प्रमुख तत्वों—तप, व्रत, सन्यास और त्याग—आदि को ठुकराया नहीं गया है बल्कि उनको समायोजित करने का ही प्रयास किया है। 'मंत्रद्रष्टा ऋषि ने एक मंत्र में कहा है कि यह यज्ञरूप कर्म तुम सब यजमानों द्वारा सम्पादित हो, परन्तु यह होना चाहिए, तपस्या से युक्त। तुम इनका अनुष्ठान करोगे तो मैं तुम्हें मनोवाञ्छित फल दूँगा।' 'अतः उन-उन वैदिक कर्मों में पूर्णतः संलग्न होना ही तपस्वी का 'तप' कहा जाता है। हवन कर्म द्वारा देवताओं को, स्वाध्याय द्वारा ब्रह्मर्षियों को तथा श्राद्ध द्वारा पितरों को उनका भाग समर्पित करके गुरु की परिचर्या करना दुष्कर 'व्रत' कहलाता है।'[१३३] 'तपस्या श्रेष्ठ कर्म है। इसमें सन्देह नहीं कि यही प्रजावर्ग का मूल कारण है किन्तु गार्हस्थ्य-विधायकशास्त्र के अनुसार इस गार्हस्थ्यधर्म में ही सारी तपस्या प्रतिष्ठित है। जिनके मन में किसी के प्रति ईर्ष्या नहीं है, जो सब प्रकार के द्वन्द्वों से रहित हैं, वे ब्राह्मण इसी को तप मानते हैं। यद्यपि लोक में व्रत को भी तप कहा जाता है, तथापि वह पञ्चयज्ञ के अनुष्ठान की अपेक्षा मध्यम श्रेणी का है।'[१३४] इसी प्रकार युधिष्ठिर को समझाने के प्रयास में नकुल कहते

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं कि 'जो धर्म से प्राप्त किए हुए धन का श्रेष्ठ यज्ञों में उपयोग करता है और अपने मन को वश में रखता है, वह मनुष्य त्यागी माना गया है, जो गृहस्थ आश्रम के सुखभोगों को जाने बिना ऊपर वाले (वानप्रस्थ व सन्यास) आश्रमों में प्रतिष्ठित होकर देहत्याग करता है, उसे तामस त्यागी माना गया है।'[१३५] 'बाहर और भीतर जो कुछ भी मन को फँसाने वाली चीजें हैं, उन सबको छाड़ देने से ही मनुष्य त्यागी होता है। केवल घर छोड़ देने से ही त्याग की सिद्धि नहीं होती।'[१३६] इसी प्रकार ज्ञानमार्ग के मोह में फँसकर कर्तव्य-भ्रष्ट हुए राजा जनक को फटकारते हुए उनकी पत्नी कहती हैं 'यदि हृदय का कषाय (रागादि दोष) दूर न हुआ हो तो काषाय (गेरुआ) वस्त्र धारण करना स्वार्थ-साधन की चेष्टा के लिए ही समझना चाहिये। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि धर्म का ढोंग रचने वाले मथमुण्डों के लिए यह जीविका चलाने का एक धन्धा-मात्र है।'[१३७] 'केवल त्याग से, मूढ़ता से और याचना करने से किसी को भिक्षु नहीं समझना चाहिये। जो सरल भाव से स्वार्थ का त्याग करता है और सुख में आसक्त नहीं होता, उसे ही भिक्षु समझिये। पृथ्वीनाथ! जो आसक्तिरहित होकर आसक्त की भाँति विचरण करता है जो संगरहित है और सभी प्रकार के बन्धनों को तोड़ चुका है, शत्रु और मित्र में जिसका समान भाव है, वह सदा ही मुक्त है।'[१३८] शान्तिपर्व का निष्काम कर्ममार्ग इस प्रकार ज्ञान-मार्ग और कर्ममार्ग दोनों के ही समन्वय के द्वारा 'कर्मसन्यास' के स्थान पर 'कर्म में सन्यास' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।[१३९] अपनी दार्शनिक शब्दावली में शान्तिपर्व ने अनेक आख्यानों और संवादों के द्वारा तथा व्यास, देवस्थान, तुलाधार, श्वेतकेतु-सुवर्चला संवाद, सुलभा-जनक, व्यास-शुकदेव आदि के उपदेशों द्वारा इस सिद्धान्त को पुष्ट किया है और ज्ञानमार्ग की अव्यावहारिकता तथा कर्ममार्गियों के लिए मोक्ष की अप्राप्तव्यता की कमियों को दूर कर जहाँ ज्ञानमार्ग को एक व्यावहारिक धरातल प्रदान किया है, वही कर्ममार्ग के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्तव्य बना दिया है।

ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग के इस वैचारिक संघर्ष में ही शान्तिपर्व मोक्षप्राप्ति की एक तीसरी व्यवस्था—भक्तिमार्ग—की भी स्थापना करने का प्रयास करता है। 'भक्तिमार्ग की प्राचीनता का सूत्र यद्यपि ऋग्वेद की, वरुण को संबोधित, आवेशपूर्ण, आसक्ति तथा आन्तरिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनुराग से भरी हुई ऋचाओं में ढूँढ़ने का प्रयास किया जाता है[१४०] किन्तु हापकिन्स के अनुसार इन ऋचाओं में व्यक्त भाव देवता के साथ वास्तविक संगोत्रता स्थापित करने के प्रयास हैं[१४१] जो उत्तरवैदिक काल में कर्मकाण्डों की औपचारिकता में लुप्त हो जाती है। भक्ति-सिद्धान्त से सम्बन्धित ईश्वरीय अनुग्रह और साकार ब्रह्म की धारणा के मूल यों तो औपनिषदिक अवतरणों में भी मिलते हैं[१४२] और धार्मिक उपासना के अर्थ में सर्वप्रथम श्वेताश्वतर उपनिषद[१४३] में 'भक्ति' शब्द का प्रयोग मिलता है किन्तु इस सिद्धान्त का प्रथम स्पष्ट विवेचन गीता में प्राप्त होता है। गीता में भक्ति नितान्त विनयपूर्वक ईश्वर की आराधना तथा उसके प्रति श्रद्धा एवं बौद्धिक विश्वास[१४४] होने के साथ ही साथ अपने विस्तृत अर्थ में एक धार्मिक नियम और जीवन शैली है। व्यावहारिक उपयोग में इस सिद्धान्त का लक्ष्य परमात्मा के सानिध्य की कल्पना करते हुए परमानन्ददायक समाधि का आनन्द उठाना-मात्र नहीं, अपितु निर्लिप्त भाव से अपने वर्णधर्मों अर्थात् जातिगत कर्तव्यों और सामाजिक आचारों का पालन करना है।'[१४५] भक्ति का यही व्यावहारिक स्वरूप शान्तिपर्व में भी उभरता है जहाँ विष्णु अथवा श्रीकृष्ण की ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठा कर उनके अनुग्रह की आकांक्षा में भक्त उन्ही के बनाए हुए अपने वर्णधर्म का पालन करता हुआ उन्हीं की कृपा से मोक्षप्राप्ति का प्रयास करता रहता है जो उसके लिए अपने आराध्य से सायुज्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।[१४६] सम्पूर्ण जगत उसके लिए उसके आराध्य की लीला का विस्तार है। यह अखिल ब्रह्माण्ड उन्हीं से उत्पन्न हुआ है, वे ही इसकी रक्षा और पालन करते हैं और अन्त में उन्हीं में यह विलीन भी हो जाता है।[१४७] आराधक तो इस लीला-भूमि में एक निमित्त की हैसियत से आता है जिसकी डोर ईश्वर के हाथों में होती है। ईश्वर की इच्छा और उन्हीं की प्रेरणा से वह भिन्न-भिन्न कर्मों में प्रवृत्त होता है और अन्त में उस ईश्वर में ही विलीन हो जाता है, जहाँ से उसका पुनरागमन नहीं होता।[१४८] यही मोक्ष है। मोक्षप्राप्ति की इस त्रिमार्गीय व्यवस्था को उसकी सम्पूर्णता में देखने पर वह एक-मार्गी ही रह जाती है जो इन तीनों—ज्ञान, भक्ति और कर्म—के समन्वय से उभरती है। इन तीनों मार्गों में ऊपर से दिखायी देने वाला विरोध उनकी आन्तरिक एकता को कहीं भी क्षति नहीं पहुँचाता,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बल्कि इन तीनों मार्गों की कमियों को दूर कर उनकी एकता को और पुष्ट ही करता है। ज्ञान के द्वारा व्यक्ति को अपने और संसार के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है, फलस्वरूप उसमें प्रेय-श्रेय के बीच चुनाव करने की विवेक-बुद्धि उत्पन्न होती है। इस विवेक-बुद्धि के उत्पन्न होने पर, चूँकि जब तक शरीर धारण है तब तक कर्म से छुटकारा नहीं मिल सकता[१४९] इसलिए, वह लोक-संग्रह अथवा लोक-कल्याण के लिए निष्काम अथवा अनासक्त भाव से कर्म करता है।([१४९क]) अनासक्त अथवा निष्काम कहने का अर्थ यह नहीं है कि हृदय से सम्पूर्ण कामनाओं को ही मिटा दिया जाय बल्कि केवल उन क्षुद्र कामनाओं को जो तृष्णा को जन्म देकर सकाम कर्म के द्वारा व्यक्ति को संसार में फँसाने का काम करती हैं।[१५०] इस प्रकार अनासक्त भाव से कर्तव्यपालन करता हुआ मनुष्य उस परमसत्ता के प्रति गहन अनुरक्ति रखता है जो भक्तिमार्गियों का ईश्वर है तो ज्ञानमार्गियों का ब्रह्म और उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। भक्ति भी, इस प्रकार, निष्काम कर्म का ही एक रूप है क्योंकि भक्त ईश्वर की प्रेरणा से कर्मों को करता अवश्य है किन्तु उसमें कर्तृत्व का अहंकार नहीं होता। वह स्वयं को एक निमित्त-मात्र मानकर कर्मफल के प्रति उदासीन होकर कर्तव्यभाव से कर्मों को करता है और उनका फल ईश्वर को समर्पित कर देता है।[१५१] कर्मफल में अनासक्ति निष्काम कर्मयोग की पहली सीढ़ी है। निष्काम-भाव से किए हुए कर्म व्यक्ति को बाँधते नहीं।([१५१क]) वह इन कर्मों को कर्तव्य भाव से करता है। इन कर्मों के फल शुभ होते हैं या अशुभ, इससे उसकी कर्तव्यशीलता में कोई अन्तर नहीं आता।[१५२] इस तरह का पुरुष संसार में रहकर भी संसार का होकर नहीं रहता। सांसारिक मायामोह उसे अपने बन्धन में नहीं फँसा पाते। वह संसार में रहकर भी मुक्त रहता है तथा मृत्यु के बाद देहत्याग कर ब्रह्म अथवा ईश्वर में विलीन हो जाता है और वहाँ से फिर नहीं लौटता। यही मोक्ष है,[१५३] यही जीवन का उच्चतम लक्ष्य है और यही वैयक्तिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा है जिसके परे और कुछ नहीं है तथा जिसको पाकर और कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता।

———

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. बार्कर, ई०, द पॉलिटिक्स ऑव अरिस्टाटिल, आक्सफोर्ड, १९४६, पृ० xlix—li; पनिक्कर, के० एम०, 'द हिन्दू कंसेप्शन ऑव द स्टेट' रीडिंग्स इन इन्डियन हिस्ट्री, पालिटिक्स एण्ड फिलासफी, (सं०) के० एस० मूर्ति, लंदन, १९६७, पृ० १३५,

२. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, १९२९ सं०, जिल्द—२, में थामस केस का लेख 'अरिस्टाटिल', पृ० ५१३; बार्कर, ई० पूर्वोद्धृत, पृ० ३५५ तथा आगे।

३. सैबाइन, जी० एच०, ए हिस्ट्री ऑव पोलिटिकल थियरी, (तृतीय भारतीय संस्करण) कलकत्ता, १९६१, पृ० १२–१३;

४. सिनहा, ए० के०, हाइरार्की एण्ड इथिकल थियरी इन एन्शिएन्ट इन्डिया, पृ०, ६१;

५. बोस, ए० सी०, हिम्न्स फ्रॉम द वेद, बम्बई, १९६६, पृ० ७; गोखले, बी० जी०, इन्डियन थाट थ्रू द एजेज, बम्बई, १९६१, पृ० २५

६. मैकेन्जी, जे० एस०, ए मैनुअल ऑव इथिक्स, लंदन, १९२९, पृ० २; भार्गव, डी० एन०, जैन इथिक्स, दिल्ली, १९६८, पृ० ३; एवरीमैन इन्साइक्लोपीडिया, जिल्द—४, लंदन, १९७८, पृ० ६८४

७. क्रमशः मनु, कौटिल्य और वात्स्यायन का नाम इस सन्दर्भ मे लिया जा सकता है।

८. उपनिषदों का सारा दर्शन ही इस प्रयास का परिणाम है।

९. तुलना कीजिये, पाण्डे, जी० सी० मूल्यमीमांसा, पृ० ५; गुप्त, एस० एन०, इन्डियन कांसेप्ट ऑव वैल्यूज, दिल्ली, १९७८, पृ० ३; राधाकृष्णन, एस०, द स्पिरिट ऑव रिलिजन, दिल्ली, १९७८, पृ० ६०.

१०. 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धि सो धर्मः' वैशेषिक सूत्र, १.१.३;

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शान्तिपर्व, १०९.१०; मुकर्जी, राधाकमल, इन्डियन स्कीम ऑव लाइफ, पृ० २०.

११. देखिये इसी पुस्तक का प्रथम अध्याय 'प्राकृतयुग'

१२. शान्तिपर्व, ७०.१२; २००.३५; २२५.१२,

१३. वास्तव में मनुष्य की सारी सामाजिकता और सारी धार्मिकता इसी उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति का साधनमात्र है। व्यक्ति की सामाजिकता का ध्येय मात्र इतना ही होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका प्राप्तव्य सुलभ हो सके। धार्मिकता व्यक्ति की स्वेच्छारिता को नियंत्रित कर उसे अपने उद्देश्य के पथ पर आगे बढ़ाती है। यह उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है और इसी में जीवन की पूर्णता निहित है।

१४. 'मुच्यते सर्वदुःखबन्धनैर्यत्र स मोक्षः'।

१५. बृहदारण्यक उपनिषद, ३.१.५, स्टयूटले, जे० और मार्गरेट, (सं०) ए डिक्शनरी ऑव हिन्दुइज्म, बम्बई, १९७७, पृ० १९३; कुप्पुस्वामी, बी०, धर्म एण्ड सोसायटी, मद्रास, १९७७, पृ० ६०;

१६. मूल्यमीमांसा, पृ० ४, अय्यर, पी० एस० एस०, इवोल्यूशन ऑव हिन्दू मारल आइडियल्स, (पुर्नमुद्रित) दिल्ली, १९७६, पृ० १५१.

१७. दासगुप्त, एस० एन०, ए हिस्ट्री ऑव इन्डियन फिलासफी, (पुर्नमुद्रित) दिल्ली, १९७५, पृ० ६१-६२; कुप्पुस्वामी, बी०, वही, पृ० ६०; रून्स, डी० डी० (सं०) ए डिक्शनरी ऑव फिलासफी, पृ० २००,

१८. हिरियन्ना, एम., भारतीय दर्शन की रूपरेखा, (हि० अनु०), (द्वि० सं०) दिल्ली, १९७३, पृ० ५३-५४; रानाडे, आर. डी., उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, (हि० अनु०) जयपुर, १९७१, पृ० १५२.

१९. श्वेताश्वतर उपनिषद, १.६; छान्दोग्य उपनिषद, ३.१४.४; ६.८.७; मैकडानल, ए. ए, वेदिक माइथालॉजी, (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, १९७४, पृ० १६७.

२०. हिरियन्ना, पूर्वोद्धृत, पृ० ५८-५९;

२१. छान्दोग्य उपनिषद, ३.१४.१; मुण्डक उपनिषद, २.२.११

२२. बृहदारण्यक उपनिषद, ३.८.८; कठ उपनिषद, १.३.१५।

२३. बृहदारण्यक उपनिषद, २.३.६; ३.९ २६; ४.५.१५।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

२४. 'ब्रह्म का प्रसिद्ध निषेधात्मक निरूपण 'नेति-नेति' है जिसकी व्याख्या निषेधात्मक तथा विधेयात्मक दोनों ही रूपों में की गयी है। बृहदारण्यक उपनिषद के अधिकांश अवतरणों में, जिनमें इस प्रसिद्ध वाक्य का उल्लेख है, यही अर्थ अभिप्रेत है कि ब्रह्म अलक्षण और अनिर्वाच्य हैं; जो कुछ भी विधान उसके विषय में किया जाय वह उससे बाह्य ही रहता है, अतः वह उसका निरूपण नहीं कर पाता। "आत्मा अग्राह्य है, क्योंकि उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वह अविनाशी है क्योंकि उसका विनाश नहीं हो सकता; वह अनासक्त है क्योंकि किसी वस्तु में उसकी आसक्ति नहीं। वह अबद्ध है क्योंकि उसे कभी व्यथा नहीं होती।" बृहदारण्यक उपनिषद, ३.९.२६; ४.२.४; ४.४.२२)। ......बृहदारण्यक उप० २.३ ६) में ही एक अवतरण है जहाँ 'नेति-नेति' को एक विधेयात्मक अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की गयी है—"यही कारण है कि लोग ब्रह्म को 'नेति-नेति' कहते हैं उससे परे किसी अन्य वस्तु की सत्ता 'नहीं' है, क्योंकि ब्रह्म में सर्वस्व समाविष्ट है।"
द्रष्टव्य, रानाडे, आर. डी., वही, पृ० १५१.

२५. 'तज्जलान्' अर्थात् वह (तत्) जो जगत को जन्म देता है (ज), उसे अपने में लीन करता है (लि) और धारण (अन्) करता है।
छान्दोग्य उपनिषद, ३;१४; हिरियन्ना, एम., पूर्वोद्धृत, पृ० ५९

२६. उपनिषदों के 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्य आत्मन् और ब्रह्मन् के अभेद को ही स्पष्ट करते हैं।
बृहदारण्यक उपनिषद, १.४.१०.

२७. छान्दोग्य उपनिषद, ८.७.१; विस्तार के लिए देखिए—दासगुप्त, एस० एन०, ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी, जिल्द—१, (पुनंमुद्रित) दिल्ली, १९७५, पृ० ४६.

२८. दास गुप्त, एस. एन., वही, पृ० ६०–६१.

२९. शाब्दिक रूप से 'निर्वाण' का अर्थ है 'बुझ जाना' या 'ठंडा पड़ जाना' और इसका लक्षणार्थ है 'नाश' जिसे शून्यता का स्वर्ग कहते हैं (देखिए, हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० १५३)। इस प्रकार सामान्य रूप से निर्वाण एक नकारात्मक आदर्श के रूप में सामने आता है किन्तु कुछ विचारकों का मत है कि निर्वाण पूरी तरह नकारात्मक आदर्श नहीं है। उनके अनुसार दुःख के माध्यम से व्यक्त किया गया यथार्थ भौतिक यथार्थ है। पारमार्थिक यथार्थ की अवधारणा उससे व्याख्यायित नहीं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होती। चूँकि निर्वाण की उपलब्धि भौतिक यथार्थ अथवा दुःखों के सफल निरोध से होती है इसलिए वह अवर्णनीय सकारात्मक यथाथ के रूप में देखी जा सकती है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग द्वारा अप्रैल, १९८० में आयोजित व्याख्यान माला के अन्तर्गत अपने एक व्याख्यान मे प्रो० चन्द्रधर शर्मा ने इस आशय के विचार व्यक्त किए। साथ ही द्रष्टव्य, हिरियन्ना, वही; हिन्डरे, आर., कम्परेटिव इथिक्स इन हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट ट्रेडीशन्स, दिल्ली, १९७८, पृ० १४३; उपाध्याय, के. एन., अर्ली ब्रुद्धिज्म एण्ड भगवद्गीता, दिल्ली, १९७१, पृ० ३४२,

यद्यपि सामान्यत: 'मोक्ष' और 'निर्वाण' पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं तथापि उनमें एक सूक्ष्म अन्तर है। 'हिन्दू आत्मवादी सम्प्रदायों में 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग 'मुक्ति' तथा 'ब्रह्मप्राप्ति' के अर्थ में किया जाता था जबकि बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण' विशेषकर 'बोधि' अथवा 'परम ज्ञान' की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त होता था।' 'ए डिक्शनरी ऑव हिन्दूइज्म', पृ० २१०।

बिटी हेईमान के अनुसार अपने व्यापक अर्थ में 'निर्वाण' एक सार्वभौमिक हिन्दू कल्पना है और किसी भी तरह मात्र कुछ बौद्ध सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं है।

हेईमान, बिटी, इण्डियन एण्ड वेस्टर्न फिलासफी : ए स्टडी इन कंट्रास्ट, लंदन, १९३७, पृ० ५४.

३०. हिरियन्ना, एम०, इण्डियन कंसेप्शन ऑव वैल्यूज, मैसूर, १९७१, पृ० २६८–२६९; भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० ७७; दासगुप्त, एस. एन., पूर्वोद्धृत, पृ० ६०–६१; कुप्पुस्वामी, बी, धर्म एण्ड सोसाइटी, मद्रास, १९७७, पृ० ६०; अय्यर, पी. एस. एस., इवोल्यूशन ऑव हिन्दू मारल आइडियल्स, (पुर्नमुद्रित) दिल्ली, १९७६, पृ० १५१–१५२.

३१. शान्तिपर्व, अध्याय, ८, १०, ११–१५, १८, २२

३२. शान्तिपर्व का प्रारम्भ ही भौतिकता को जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि मानने वाली विचारधारा के खण्डन से प्रारम्भ होता है और महाभारत युद्ध के पश्चात् प्राप्त होने वाले भौतिक ऐश्वर्यों को ठुकराते हुए वैराग्य-पूर्वक सन्यास लेने के लिए उद्यत युधिष्ठिर इसका सूत्रपात करते हैं जो

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आगे मोक्षधर्मपर्व के अन्तर्गत विभिन्न आख्यानों और उपदेशों के माध्यम से अधिक स्पष्ट होकर सामने आता है।

३३. यह समन्वय निष्कामकर्मयोग के सिद्धान्त के रूप में सामने आता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक कर्तव्यों को करता हुआ भी वैयक्तिक उत्कर्ष तक पहुँचने में सक्षम हो सकता है। कर्मों के बन्धन उसके मार्ग की बाधा नहीं बन सकते। महाभारत युद्ध के घटनाक्रम के अनुसार शान्तिपर्व से पूर्व इस सिद्धान्त का प्रस्फुटन भगवद्गीता में हो चुका था किन्तु शान्तिपर्व में इसका अधिक स्पष्ट और विकसित स्वरूप सामने आता है।

३४. शान्तिपर्व, ४७; २०७; २१०. ६–१२, १४

३५. वही, १८१.११–१३; २०६.१०, १२–१५; २०९.

३६. वही, ४७.१८, २१ २५, ३०–३१; २०१; २०६;

३७. यही मोक्ष है जो निश्चित रूप से एक वैयक्तिक उपलब्धि है और केवल उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है जो उसकी प्राप्ति का प्रयास करे। व्यक्ति 'मनुष्य' होते हुए इसकी प्राप्ति का प्रयास अवश्य कर सकता है किन्तु इसकी प्राप्ति वैयक्तिक तौर पर ही हो सकती है। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को मोक्ष नहीं दिला सकता। अधिक से अधिक वह दूसरे व्यक्ति के लिए अधिकतम सुविधायें प्राप्त करा सकता है और समाज तथा राज्य जैसी संस्थायें भी व्यक्ति की इतनी ही सहायता कर सकती हैं। किन्तु मोक्ष के लिए वैयक्तिक स्तर का प्रयास अनिवार्य है और इसीलिए मोक्ष वैयक्तिक उपलब्धि है।

३८. बृहदारण्यक उपनिषद, ३.१.५७; हिरियन्ना, इण्डियन कंसेप्शन ऑव वैल्यूज, पृ० २४५; भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० ७३.

३९. हिरियन्ना का विचार है कि यद्यपि प्रधान रूप से उपनिषदों में मोक्ष को मृत्योपरान्त प्राप्त होने वाली अवस्था के रूप में अवधारित किया गया है तथापि कुछ ऐसे वक्तव्य भी प्राप्त होते हैं जिनके अनुसार मोक्ष जीवनकाल में भी सम्भव है।'

इण्डियन कंसेप्शन ऑव वैल्यूज, पृ० २४५; भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० ७३; अय्यर, पी. एस. एस., पूर्वोद्धृत, पृ० १५५; कुप्पुस्वामी, पूर्वोद्धृत, पृ० ६३.

इन दोनों आदर्शों को बाद में क्रमश क्रममुक्ति और जीवन्मुक्ति कहा गया।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

४०. गीता, ३.४-५, ६, १०,

४१. गीता, ४.१४, २१-२२, ३०,

४२. बृहदारण्यक उपनिषद, ४.४.७; कठोपनिषद, २.३.१४; श्वेताश्वतर उपनिषद, ३.७

४३. 'विमुक्ताश्च विमुच्यते', कठोपनिषद, २.२.१; तुलनीय किशन, बी. वी., शोपेनहावर्स कंसेप्शन ऑव साल्वेशन, वाल्टेयर, १९७८, पृ० ९७,

४४. शान्तिपर्व का उद्देश्य चूँकि पुरातन मूल्यों का पुर्नस्थापन था इसलिए कर्ममार्ग की अवहेलना उसके द्वारा सम्भव नहीं थी किन्तु निवृत्तिपरक धर्मों के द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग में कर्म को बाधक समझने वाली विचारधारा के कारण कर्मपरम्परा के विरुद्ध उठने वाले सन्देहों का निराकरण करना भी आवश्यक था। अतः 'निष्काम कर्म' के सिद्धान्त का समर्थन कर शान्तिपर्व के विचारकों ने कर्ममार्ग के द्वारा भी मोक्ष को सांसारिक स्थिति में भी प्राप्तव्य बनाया। यही कारण है कि शान्तिपर्व में देहमुक्ति के स्थान पर जीवन्मुक्ति का आदर्श अधिक स्पष्ट हुआ है।

४५. शान्तिपर्व, १८.३०;

४६. शान्तिपर्व, २१.३; १६८.४०;

४७. वही, २१.४; १६८.४२;

४८. वही, २१.५;

४९. वही (गीता प्रेस सं०), २६.१६;

५०. कुप्पुस्वामी, पूर्वोद्धृत, पृ० ३७ तथा आगे।

५१. यद्यपि भगवद्गीता के प्रणयन की पृष्ठभूमि भी कुछ इसी तरह की है।

५२. शान्तिपर्व, ५९.१४

५३. वायुपुराण, १.८.४८; ब्रह्माण्डपुराण, १.७.४; ओम प्रकाश, पोलिटिकल आइडियाज इन द पुराण, इलाहाबाद, १९७८, पृ० ३२.

५४. बौद्ध और जैन साहित्य भी मानव-स्वभाव के पतन के लिए उसकी भौतिक विवशताओं को ही उत्तरदायी ठहराते हैं।

देखिए—प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम अध्याय, पृ० १०

५५. कृतयुग से पतन के बाद उत्पन्न अराजकता और अव्यवस्था को दूर करने के लिए अर्थशक्ति के रूप में राज्य की उत्पत्ति और वेन की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निरंकुश अर्थशक्ति को नियंत्रित करने के लिए ऋषियों द्वारा उसका वध शान्तिपर्व में ही इस तथ्य को स्पष्ट करता है।
शान्ति०, ५६.९७-९८, १००

५६. शान्ति०, १५.६,

५७. मनुष्य का भौतिक अस्तित्व इन विवशताओं के निर्वाह से ही सम्भव है। इनको नकारने से उसका 'अस्तित्व-संकट' उपस्थित हो जायगा। इनसे मुक्ति मृत्यु के पश्चात् ही मिल सकती है। जोवन धारण करने तक इनसे मुक्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

५८. युधिष्ठिर की उद्विग्नता के मूल में शान्तिपर्वकार की यह असहमति ही प्रकट होती है और अन्त में 'मोक्षधर्मपर्व' का समावेश कर मानव-स्वभाव की पूर्णता को इन विवशताओं की परिधि से मुक्त कर वह उसे अपेक्षाकृत ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित करती है।

५९. त्रिवर्ग और चतुर्वर्ग का यह संघर्ष प्रेय और श्रेय के संघष के रूप में अत्यन्त स्पष्ट रूप में सर्वप्रथम कठोपनिषद में देखने को मिलता है और उसमें निश्चित रूप से श्रेय की प्राप्ति की दिशा में प्रेय की नकारात्मकता को अत्यन्त स्पष्टता के साथ व्यक्त किया गया है।
कठोपनिषद, १.२.१

६०. यद्यपि भौतिक धरातल पर 'काम' को साध्य माना जाता है किन्तु अन्तिम स्तर पर 'मोक्ष' के साध्यत्व में 'काम' अपना साध्यत्व खो देता है और त्रिवर्ग चौथेवर्ग-मोक्ष के लिए साधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता।

६१. शान्तिपर्व, ७.३४-३५,३९; ६.२, १२-१४, २६; १७.९-१२; १९.२०,

६२. शान्तिपर्व—अध्याय, १६८

६३. वही, १७०.७-१०, २१-२२

६४. वही, १७१-१४, १६, २२, ४८-५१

६५. वही, १७१.६१; शान्तिपर्व (गीता प्रेस सं०), १७८.८,

६६. वही, अध्याय, १७२.

६७. वही, १७१.५६-६१; (गीता प्रेस सं०) अध्याय, १७८.

६८. वही, १८.१४; २१.१६

६९. यद्यपि समष्टिगत हित के लिए आवश्यकता पड़ने पर व्यष्टिगत हितों का बलिदान शान्तिपर्व की दृष्टि में किसी भी तरह अनुचित नहीं है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शान्ति०, ३४.१६
७०. शान्ति०, २०.४; ६१.२–५; १६६.६;
७१. शान्ति०, ६१.७; १६६,
७२. शान्ति०, ११.१५, २०–२१,
७३. शान्ति०, अध्याय—१८
७४. शान्ति०, २२.५–६,
७५. शान्ति०, १२.११, १२, १७, १८, २१; ६१.१४–१७; १८४.१०, १३, १६–१८; २३५.२३–२६; २६१.५–६,
७६. शान्तिपर्व, २०.४; २३४.१५
७७. तुलनीय, गुप्त, एस. एन., इण्डियन कांसेप्ट ऑव वैल्यूज़, दिल्ली, १९७८, पृ० ३–४,
७८. इसके अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण शान्तिपर्व के प्रारम्भिक अध्यायों में युधिष्ठिर के वक्तव्य तथा ऋषि पिता-पुत्र की कथा में ऋषिपुत्र के वक्तव्य हैं।
७९. शान्तिपर्व, १०.१७–१८, २१–२७; १८.३२–३४
८०. शान्ति०, अध्याय, २६१,
८१. वही, १८.२६–२८; १८४.१०;
८२. शान्तिपर्व में जनक, व्यास, सुवर्चला-श्वेतकेतु आदि इसी के उदाहरण हैं।
८३. शान्ति०, १७.६, ९, ११.
८४. पाण्डेय, राजबली, भारतीय नीति का विकास, पृ० २८–२९; अय्यर, पी. एस. एस., पूर्वोद्धृत, पृ० १६५
८५. तुलनीय, पाण्डे, जी. सी., बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० २५; कर्न. एच.; मैनुअल ऑव इण्डियन बुद्धिज्म, दिल्ली, १९७४, पृ० ११–१२; अय्यर, पी. एस. एस., पूर्वोद्धृत, पृ० १५८; मजूमदार, आर. सी., 'इवोल्यूशन ऑव रिलिजो—फिलासोफिक कल्चर इन इण्डिया' द कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया, जिल्द—३, कलकत्ता, पृ० १३–१४
८६. शान्तिपर्व, ७.३४–३६; ९.३३; १९.२०; १६६; १८२.१६,
८७. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—दासगुप्त, एस. एन., ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी, जिल्द—१, (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, १९७५, पृ० ४८–५७; हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० ७६–८०; पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ० २४–२५;

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

८८. गीता०, ४.३७–३९;
८९. शान्ति०, ७.३४–३६
९०. वही, ७.३८
९१. वही, ७.३६
९२. वही, ९.१३–१४
९३. वही, ९.२४–२५
९४. वही, १७२.
९५. वही, १९.१५; २३३.८, ११–१४;
९६. तैत्तिरीय आरण्यक, जिल्द—१, पृ० २; तैत्तिरीय ब्राह्मण, पृ० १३१५, पाण्डे, जी. सी. द्वारा बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० १० में उद्धृत; हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० ४७; सुकंठकर, वी. एस., ऑन द मीनिंग ऑव द महाभारत, बम्बई १९५७, पृ० ६९, ९४
९७. छान्दोग्य उपनिषद, ५.१९–२४; कौषीतकी उपनिषद, २.५.; रानाडे, पूर्वोद्धृत, पृ० ६
९८. कठोपनिषद, १.२.१-२,
९९. पाण्डे, जी. सी., मूल्यमीमांसा, पृ० ४;
१००. वही,
१०१. तुलनीय, पाण्डे, जी. सी., 'द इन्फ्लुएन्स ऑव रिलिजन ऑन इण्डियन सोशल लाइफ' स्टडीज़ इन सोशल हिस्ट्री (सं०) ओ. पी. भटनागर, इलाहाबाद, १९६४, पृ० ४६; जैन, आर. सी., द मोस्ट एन्शिएन्ट आर्यन सोसाइटी, दिल्ली, १९६४, पृ० ४९, २२१.
१०२ शान्ति०, १७.९
१०३. वही, १७.१०
१०४. वही, १७.११
१०५. वही, ७.१५
१०६. वही, १९.२०
१०७. वही, १९.१५; गीता, ४.३३;
१०८. वही, १९.२६,
१०९. वही, अध्याय, १७०.
११०. वही, अध्याय, १७१.
१११. वही, अध्याय, २६३

State Museum Library Lucknow 7148

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

११२. वही, अध्याय, २६८
११३. वही, अध्याय, २७०.
११४. वही, १०.१७, २१, २३–२५;
११५. वही, ८; ११.१२–१७; तथा १५, १८,
११६. वही, १४.
११७. वही, १२.३–६, ११, १२, २५,३४
११८. वही, १३.७–९
११९. तुलनीय, फिक, आर., द सोशल आर्गनाइजेशन इन द नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया, पृ० ३०–३१; पनिक्कर, आर., द वैदिक एक्सपीरिएन्स-मंत्रमञ्जरी, लंदन, १९७७, पृ० २६६
१२०. शान्तिपर्व में 'दण्ड' और 'धर्म' जैसी व्यवस्थायें इस अनिवार्य आवश्यकता को पूरी कराने की ही व्यवस्थायें हैं।
१२१. शान्तिपर्व, २६.२३
(१२१क) तुलनीय, चट्टोपाध्याय के., स्टडीज इन वेदिक एण्ड इन्डो-ईरानियन रिलिजन एण्ड लिटरेचर, जिल्द—१, वाराणसी, १९७६, पृ० १०९
(१२१ख) आर्गन, टी. डब्ल्यू., द हिन्दू क्वेटर फॉर द परफेक्शन ऑव मैन, ओहियो, १९७०, पृ० २०९.
१२२. शान्ति०, ११.१३,
१२३. वही, ११.१६–१७.
१२४. वही, १०.२८
१२५. चूँकि कर्मफल ही मोक्षप्राप्ति के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं और उन्हें ही भोगने के लिए जीव को बार-बार जन्म-ग्रहण करना पड़ता है इसलिए सिद्धान्ततः कर्ममार्ग का अनुसरण कर मोक्ष प्राप्त कर सकना असम्भव है। युधिष्ठिर का कर्म-परम्परा के प्रति विद्रोह कर्म-मार्ग की इसी विवशता के कारण फूटा है।
१२६. शान्तिपर्व, २५.३३; २९.११; ५५.१९; ९७.१२, ३०–३२; ९८.४४–४५; १३१.१२.
१२७. कर्म-मार्ग की परम्परा में सकाम और निष्काम कर्म का पृथक्करण शान्तिपर्वकार की इस चेष्टा के फलस्वरूप ही सामने आता है यद्यपि यह सत्य है कि भारतीय दर्शन के इतिहास में शान्तिपर्वकार का यह प्रयास ही पहला प्रयास नहीं था। महाभारत युद्ध के घटनाक्रम के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनुसार शान्तिपर्व के पहले 'गीता' में यह सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया जा चुका था ।

१२८. यद्यपि एक सिद्धान्त के रूप में निष्काम कर्मयोग का स्पष्ट प्रतिपादन गींता में सर्वप्रथम प्राप्त होता है तथापि इस सिद्धान्त के बीज उपनिषदों में भी देखे जा सकते हैं । ईश-उपनिषद के एक मंत्र में इस सिद्धान्त की पूर्वपीठिका देखने को मिलती है ।
ईश-उपनिषद, १.२; गीता, अध्याय—३, ५.

१२९. भारतीय नीति का विकास, पृ० ६९.

१३०. शान्तिपर्व, १२.१५, १८, ३३

१३१. वही, १३.२, ३.

१३२. वही अध्याय, २०, २१

१३३. शान्तिपर्व, ११.१८–१९.

१३४. वही, ११.२१–२२; सुकठंकर, वही, पृ० १०१,

१३५. वही, १२.७–८

१३६. वही, १२.३३

१३७. वही, १८.३३

१३८. वही, १८.२९–३०

१३९. वही, १६४,१२,

१४०, भण्डारकर, आर. जी., वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स (पुनंमुद्रित) कलेक्टेड वर्क्स ऑव आर० जी० भण्डारकर, पूना, १९२८, पृ० ४०; मैक्नीकाल, एन., इण्डियन थेइज्म, लंदन, १९१५, पृ० १०.

१४१. हापकिन्स, ई. डब्ल्यू०, इथिक्स ऑव इन्डिया, न्यू हैवेन, १९२४, पृ० १२.

१४२. कठोपनिषद, २.२३; छान्दोग्य उपनिषद, ३.४; जायसवाल, सुवीरा, वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, दिल्ली, १९७६, पृ० ११७; ग्रियर्सन, जी. ए., इन्साइक्लोपीडिया आव रिलिजन एण्ड इथिक्स, जिल्द—२, पृ० ५३९; सिनहा, जदुनाथ, द कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया, जिल्द—२, पृ० ४८.

१४३. श्वेताश्वतर उपनिषद, ७.४३.

१४४. गीता, ९.१३,२६; हापकिन्स, पूर्वोद्धृत, पृ० १९४.

१४५ जायसवाल, सुवीरा, वही, पृ० ११८.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१४६. शान्ति०, अध्याय—४१; ४७; १११.२३, २८; २०७ (गीता प्रेस सं०)
इन अध्यायों के अतिरिक्त शान्तिपर्व का नारायणीय अध्याय तो पूरी तरह भक्ति के सैद्धान्तिक प्रतिपादन का प्रमाण है।

१४७. शान्ति०, ४७.१२–१३, २२; गीता, ७.६–७;

१४८. शान्ति० (गीता प्रेस सं०) अध्याय २०६; तुलनीय, आर्गन, टी० डब्ल्यू०, द हिन्दू क्वेस्ट फॉर द परफेक्शन ऑव मैन, ओहियो, १६७०, पृ० २४६;

१४६. गीता, ३.५

१४६(क) 'लोक-संग्रह के लिए कर्म की अनिवार्यता' का आदर्श ही ईश्वर तक को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। गीता, ३.२०–२४

१५०. पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ० ५६.

१५१. गीता, ५.१०–१२; रिलिजस हिन्दूइज्म, पृ० २४७; तुलनीय ओ' फ्लेहार्टी, डब्ल्यू. डी., एसेटिज्म एण्ड इरोटिसिज्म इन द हिन्दू माइथॉलॉजी ऑव शिव (भारतीय सं०) दिल्ली, १६७५, पृ० ३८–३६; जायसवाल, सुवीरा, पूर्वोद्धृत, पृ० ११७;

१५१(क) गीता, ४.२०–२३; ५.७,

१५२. इस समत्वबुद्धि से युक्त व्यक्ति ही 'स्थितिप्रज्ञ' कहा गया है और गीता तथा शान्तिपर्व की सारी दार्शनिकता इसी के चतुर्दिक घूमती है। गीता, २.५४–५५;
साथ ही देखिए, सुकठंकर, वही, पृ० ११८

१५३. पॉटर, के. एच., प्रिजम्पशन्स ऑव इण्डियन फिलास्फीज प्रेन्टिस, १६६३, पृ० १०.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का सामञ्जस्य-सूत्र-'धर्म'

प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं पुरावृत्तों में मानव-जीवन कृतयुग की वैयक्तिकता से प्रारम्भ होता है और जीवन के उच्चतम लक्ष्य-मोक्ष की प्राप्ति के लिए वैयक्तिकता के चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर समाप्त हो जाता है। मानव-जीवन के प्रारम्भ और अन्त के ये दोनों छोर मानव-स्वभाव के सहज-स्वाभाविक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें कृतयुग यदि मानव-जीवन के भौतिक विवशताओं का शिकार होने के पूर्व (धर्माधर्म के विभाजन से परे होने के कारण) नैतिक पूर्णता का वह प्राथमिक युग है[1] जिससे उसका (मानव स्वभाव का) पतन ही भौतिक धरातल पर मानव-जीवन के प्रारम्भ का कारण है,[2] वहीं मोक्ष के स्तर तक पहुँचाने वाली वैयक्तिकता भौतिक विवशताओं को पराजित करने और उनसे मुक्त होने के बाद प्राप्त होने वाली वह विराट वैयक्तिकता है जिसमें मानव-जीवन की पूर्णता समाहित होती है।[3] पूर्णता की इन दो उच्चतम स्थितियों के बीच संसार की स्थिति होती है जो भौतिक परिस्थितियों की विवशताओं में फँसे मानव का कार्यक्षेत्र है। यही वह कर्मभूमि है जहाँ वह इन विवशताओं का सामना करता है और उन्हें पराजित कर जीवन की पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करता हैं।[4] भौतिक जगत में मानवजीवन की यात्रा उसके इन्हीं प्रयासों का इतिहास है। इस यात्रा को सुगम बनाने के लिए किए गए उसके प्रयासों के क्रम में समाज एवं राज्य जैसी संस्थायें उद्भूत होती हैं जिनकी सहायता से परिस्थितियों को यथासंभव नियंत्रित कर वह अपनी विवशताओं का सामना करता है[5] और उनसे मुक्त होने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। एक भौतिक प्राणी के रूप में मनुष्य की वैयक्तिकता जो उसकी कृतयुगीन तथा मोक्षस्तर की निरपेक्ष वैयक्ति-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कताओं से भिन्न एक सापेक्ष वैयक्तिकता होती है, इन्हीं संस्थाओं के प्रति सापेक्ष होती है और इन्हीं से सन्दर्भित होती है।[६] सृष्टियोजना के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में मानव-जीवन का भौतिक स्वरूप, कृतयुगीन पूर्णता की स्थिति से पतन के कारण, एक ओर यदि मानव-स्वभाव के नैतिक पतन को द्योतित करता है तो दूसरी ओर पतन की इस स्थिति से पुनः पूर्णता (मोक्ष) की ओर अग्रसर होने के कारण उसमें (मानव-स्वभाव में) निहित नैतिकता अथवा धर्म के पुर्नजागरण का भी प्रयास करता है। मानव-स्वभाव के विकास की धारा इस प्रकार कुछ दूर तक तो मानव-सभ्यता की धारा के साथ ही साथ प्रवाहित होती है किन्तु एक सीमा के बाद इन दोनों की दिशा एक दूसरे के विपरीत हो जाती है।[७] सभ्यता का विकास जहाँ भौतिकता के धरातल पर उसकी (व्यक्ति की) सामाजिकता तक ही सीमित रह जाता है, मानव-स्वभाव का विकास भौतिकता व सामाजिकता की घेरेबन्दी को तोड़कर वैयक्तिकता की विराटता तक जा पहुँचता है।[८] यही कारण है कि राज्य और समाज जिन्हें यूनानी विचारधारा में जीवन का उच्चतम लक्ष्य अवधारित किया गया है, भारतीय विचारधारा में जीवन के उच्चतम लक्ष्य तक पहुँचने के साधन मात्र बनकर रह जाते हैं।[९] इससे अधिक उनका कुछ महत्व नहीं है। भारतीय विचारधारा में मानव-स्वभाव की मौलिकता उसकी वैयक्तिकता में ही निहित है। सामाजिकता तो भौतिक धरातल पर मानव-स्वभाव की एक व्यावहारिक अभिव्यक्ति मात्र है, मानव-स्वभाव का वह कोई मौलिक तत्व नहीं है। उसकी सीमायें भौतिक जगत तक ही सीमित हैं। भौतिक जगत की परिधि से परे किसी भी प्रकार की सामाजिकता की कल्पना मानव-स्वभाव के मौलिक स्वरूप का विरोध करेगी। भौतिक जगत की वास्तविकता के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य की सांसारिक वैयक्तिकता तथा सामाजिकता का अनिवार्य द्वैत अपने अन्तर्विरोध को सामञ्जस्य और सहकार में बदलने के लिए किसी ऐसे सूत्र की अपेक्षा करता है जो अन्ततोगत्वा उसे उसकी निरपेक्ष वैयक्तिकता के धरातल से भी जोड़ने की क्षमता रखता हो। यही सामञ्जस्य-सूत्र भारतीय विचारधारा में 'धर्म' के रूप में सामने आता है और उसी का विवेचन यहाँ अभीष्ट है।

वैयक्तिक एवं सामाजिक संघटनों में अन्तर्विरोध

व्यक्ति और समाज के अन्तर्सम्बन्धों के अध्ययन में वैयक्तिकता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का सांसारिक स्वरूप ही हमारे सामने आता है और उसी की सापेक्षता में ही व्यक्ति और समाज[९] के सम्बन्ध अधिक स्पष्टता के साथ उभारे जा सकते हैं। शान्तिपर्व की सारी पुरावृत्तात्मकता और दार्शनिकता को ध्यान में रखकर देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि शान्तिपर्व ने भौतिक और आध्यात्मिक धरातलों के समन्वय के माध्यम से व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में सामञ्जस्य स्थापित करने का सफल प्रयास किया है तथापि मानव-स्वभाव की मौलिक वैयक्तिकता और उसकी पराकाष्ठा में ही जीवन का उच्चतम लक्ष्य निर्धारित करने की उसकी (शान्तिपर्व की) दार्शनिकता ने व्यक्ति और समाज के बीच के मौलिक अन्तर्विरोध को भी अत्यन्त स्पष्ट करके उभारा है।[१०] शान्तिपर्व में मात्स्यन्याय और अराजक के वर्णन तथा स्थान-स्थान पर की गयी 'दण्ड' की प्रशस्ति में भी यही तथ्य अभिव्यक्त होता हुआ सा लगता है।[११] 'दण्ड' के सामाजिक एवं धार्मिक औचित्य का प्रतिपादन करते हुए शान्तिपर्व की 'दुर्लभो हि शुचिनरः'[१२] की उद्घोषणा का तात्पर्य व्यक्ति के मौलिक स्वभाव को बुरा बताने का उतना नहीं है जितना कि समाज के साथ उसके मौलिक अन्तर्विरोध को व्यक्त करना क्योंकि दण्ड का मूल उद्देश्य शान्तिपर्व की दृष्टि में व्यक्ति की नितान्त वैयक्तिक स्वार्थपरता का (बल प्रयोग से ही सही) दमन कर[१३] उसकी सामाजिकता को उभारना और इस प्रकार बने समाज में व्यवस्था को स्थापित करना है।[१४] दण्ड के भय से ही व्यक्ति और समाज के अन्तर्विरोध दबे रहते हैं और उसकी वैयक्तिकता तथा सामाजिकता के बीच एक सामञ्जस्य बना रहता है किन्तु दण्ड के अभाव में यह अन्तर्विरोध फूट पड़ता है और सामाजिकता का सारा ढाँचा वैयक्तिक स्वार्थपरता और स्वेच्छाचारिता के नीचे दब जाता है, फलस्वरूप वर्णधर्म खतरे में पड़ जाता है, व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और बलवान अपनी शक्ति के बल पर अपनी वैयक्तिक आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति करने लग जाते हैं और सारी सामाजिकता विनष्ट हो जाती है। उल्लेखनीय है कि व्यक्ति और समाज का यह अन्तर्विरोध केवल मानव-स्वभाव के इस पतनबिन्दु पर ही नहीं उभरता बल्कि उसका (मानव-स्वभाव का) उच्चतम उत्कर्ष भी इस अन्तर्विरोध की ही अभिव्यक्ति है।[१५] मोक्ष के लिए आवश्यक उच्चतम स्तर का स्वभाव-बोध संसार की अनित्यता और असारता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को स्पष्ट कर मानव को वैराग्य की ओर प्रेरित करता है और यह वैराग्य सामाजिक दायित्वों को नकार कर उसे वैयक्तिकता की परमत्ता तक ले जाता है। व्यक्ति और समाज के बीच का अन्तर्विरोध इस प्रकार मानव-स्वभाव की मौलिकता में निहित एक अनिवार्य तथ्य है। समाज और राज्य की उत्पत्ति के पूर्व कृतयुगीन मानव-स्वभाव में अभिव्यक्त होने वाली पूर्णता हो अथवा मोक्ष के स्तर तक पहुँचते हुए आत्मज्ञानी को प्राप्त होने वाली पूर्णता हो, मानव-स्वभाव की मौलिकता में वह वैयक्तिकता की चरम अभिव्यक्ति के सिवा और कुछ नहीं है। राज्य और समाज जैसी संस्थायें यद्यपि सृष्टियोजना के परिप्रेक्ष्य में मानव-स्वभाव के स्वाभाविक विकास के परिणामस्वरूप उद्भूत संस्थाओं रूप ग्रहण करती हुई सी दिखायी देती हैं, तथापि काफी गहराई से देखने पर ये संस्थायें अपने अन्तिम रूप में मानव-स्वभाव की मौलिकता में 'व्यक्ति' और 'मनुष्य' के अन्तर्विरोध को ही व्यक्त करती हैं क्योंकि अपने अन्तिम रूप में मानव एक नितान्त वैयक्तिक प्राणी बन-कर ही रह जाता है।

व्यक्ति और समाज के बीच सामञ्जस्य की आवश्यकता और उसकी जटिलतायें—व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में यह मौलिक अन्तर्विरोध होने के बावजूद भी इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि वास्तविक जीवन में व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक भी है।[१६] व्यक्तियों से ही समाज बनता है और समाज में रहकर ही व्यक्ति की वैयक्तिकता अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँचने की सुविधा प्राप्त करती है।[१७] व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध इस प्रकार अपने सारे अन्तर्विरोधों के होते हुए भी आदर्श और यथार्थ के सम्बन्धों की तरह अन्योन्याश्रित होते हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना केवल वैचारिक धरातल पर ही की जा सकती है, वास्तविकता के धरातल पर नहीं।[१८] वास्तविकता के धरातल पर वे दोनों ही एक दूसरे को सन्दर्भित करते हैं और उनका अध्ययन एक दूसरे की सापेक्षता में ही किया जा सकता है। सैद्धान्तिक धरातल पर कतिपय प्रसंगों को छोड़-कर वास्तविक जगत में मानव-स्वभाव अथवा मानव-समाज से सम्ब-धित अधिकांश प्रसंगों में शान्तिपर्व ने इस तथ्य को ध्यान में रखा है और मानव-स्वभाव का अध्ययन करने के प्रयास में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है।[१९] पूर्णनिष्ठा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के साथ वर्णधर्म के पालन द्वारा मोक्ष को संभव बनाकर शान्तिपर्व जहाँ एक ओर सामाजिकता के माध्यम से वैयक्तिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा तक पहुँचने का मार्ग दिखाता है वहीं दूसरी ओर सामान्य धर्म तथा आश्रमव्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति का संस्कार कर पहले तो उसमें सामाजिकता का सूत्रपात करता है और सामाजिक दायित्वों का निर्वाह कर लेने के बाद उसे वैयक्तिकता के चरम उत्कर्ष तक पहुँचने के लिए मुक्त कर देता है।[२०] इस बिन्दु पर आकर वैयक्तिक उत्कर्ष और सामाजिक उत्कर्ष दोनों ही समन्वित होकर एक विराट वैयक्तिकता को जन्म देते हैं और अपनी-अपनी पूर्णता के साथ दोनों ही उस विराट वैयक्तिकता में समाहित हो जाते हैं ([२०क])। यह विराट वैयक्तिकता भौतिक धरातल से परे पारमार्थिक उपलब्धि का एक साधन है किन्तु इसका रास्ता भौतिक जगत से होकर ही जाता है। इस 'रास्ते' की पूर्णतया उपेक्षा संभव नहीं हो सकती क्योंकि भौतिक जीवन की विवशतायें ऐसे 'पथिक' के लिए 'अस्तित्व-संकट' का खतरा खड़ा कर देंगी और तब पारमर्थिक उपलब्धि एक असंभव कल्पना मात्र बन कर रह जायगी। इसलिए भौतिकता को नकारे बिना पारमार्थिक उपलब्धि का प्रयास एक व्यावहारिक आवश्यकता है।[२१] पारमार्थिकता भौतिकता का विरोध नहीं है बल्कि भौतिकता की सारी पूर्णता पारमार्थिकता में ही समाहित होती है।[२२] जीवन में भौतिक उपलब्धियों को ही 'सब कुछ' मान लेना यदि एकांगिता है तो पारमार्थिक उपलब्धि के नाम पर भौतिक जगत को पूर्णतया नकार देना भी एकांगिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[२३] जीवन की पूर्णता इन दोनों के समन्वय में निहित है [२४] इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इन दोनों अतिवादों में एक सामञ्जस्य स्थापित कर जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयास किया जाय।[२५] व्यक्ति और समाज के बीच भी सामञ्जस्य की आधारभूमि मानव-जीवन की यह मौलिक आवश्यकता ही है। ऐसे सामञ्जस्य के अभाव में न तो वैयक्तिकता का ही कोई उत्कर्ष संभव हो सकता है और न सामाजिक व्यवस्था की कोई कल्पना ही की जा सकती है।

आध्यात्मिक अथवा पारमार्थिक उपलब्धियों को छोड़ भी दिया जाय तो भौतिक धरातल पर भी व्यक्ति और समाज के बीच सामञ्जस्य का महत्व कम नहीं होता। व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्णतः वैयक्तिक होकर नहीं कर सकता। उसे किसी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

न किसी के सहयोग की आवश्यकता निश्चित रूप से पड़ेगी और सहयोग की यह आवश्यकता ही समाज को जन्म देती है।[२६] व्यक्ति और समाज इस प्रकार सापेक्ष इकाइयाँ हैं और इन दोनों का अस्तित्व तभी तक सम्भव है जब तक कि इन दोनों के बीच किसी तरह का सामञ्जस्य स्थापित रहे जो दोनों के हितों की रक्षा करते हुए दोनों के अस्तित्वों को आधार प्रदान कर सके।[२७]

व्यक्ति और समाज के बीच सामञ्जस्य की यह कल्पना जीवन की अनिवार्य आवश्यकता होते हुए भी अत्यधिक जटिल है। मानव-स्वभाव की मौलिकता को ध्यान में रखकर देखने पर ज्ञात होता है कि अपने मौलिक रूप में मनुष्य नितान्त वैयक्तिक होता है और अपने 'वैयक्तिक हितों' को पूरा करना ही उसके लिए जीवन का उच्चतम लक्ष्य होता है।[२८] इसके विपरीत सामाजिक जीवन की आधारभूमि ही वैयक्तिक हितों पर सामूहिक हितों की वरीयता है।[२९] ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में संगति अथवा सामञ्जस्य तभी लाया जा सकता है जब या तो व्यक्ति को समाज से बड़ा मानकर सामाजिकता का प्रश्न ही मिटा दिया जाय अथवा समाज को व्यक्ति से बड़ा मान लिया जाय और सामाजिक हित के अतिरिक्त वैयक्तिक हित की कोई कल्पना ही न की जाय और या फिर व्यक्ति और समाज दोनों की अलग-अलग सीमायें निर्धारित कर दी जायँ और उनके बीच सामान्य क्षेत्र के विवादों को किसी निष्पक्ष मध्यस्थ सत्ता के माध्यम से न्यायसंगत ढंग से हल कर लिया जाय। शान्तिपर्व ने इन तीनों ही स्थितियों को बारी-बारी से प्रस्तुत किया है और उनके आलोचनात्मक प्रस्तुतीकरण के द्वारा उनकी कमियों को भी स्पष्ट रूप से उभार कर सामने ला दिया है। वैयक्तिक सर्वोच्चता के शान्तिपर्व में दो उदाहरण मिलते हैं—कृतयुग तथा मात्स्यन्याययुग। कृतयुग प्राचीन भारतीय पुरावृत्तात्मक वृत्तान्तों में अवतरित प्राक्समाज युग की एक कल्पना है जिसे वास्तविकता के धरातल पर नहीं लाया जा सकता, इसलिए वैयक्तिक सर्वोच्चता का दूसरा युग—मात्स्यन्याययुग ही बचता है जिसमें 'शक्ति' के द्वारा कुछ बलवान व्यक्ति अधिकांश निर्बल व्यक्तियों को नियंत्रित करते हैं और उनके बीच सम्बन्ध, शक्ति के भय से, अनुकूल अथवा संगत बने रहते हैं। स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में 'कुछ शक्तिशाली लोगों' के हितों की ही रक्षा हो पाती है, अधिकांश

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पीड़ित और दमित ही रहता है।[३०] अतः इसे आदर्श व्यवस्था नहीं माना जा सकता। शान्तिपर्व ने इसे अस्वीकृत कर दिया है और दूसरे विकल्प की ओर दृष्टि डाली है। इस दूसरी व्यवस्था में वैयक्तिक हितों को सामूहिक हित के लिए बलिदान कर दिया जाता है और फिर समाज ही समाज रह जाता है, व्यक्ति का अस्तित्व उपेक्षणीय हो जाता है।[३१] ये दोनों ही व्यवस्थायें 'शक्ति' के द्वारा संचालित होने वाली व्यवस्थायें हैं जिनमें पहली वैयक्तिक शक्ति का प्रयोग करती है तो दूसरी सामूहिक शक्ति का। शान्तिपर्व मानव को मात्र 'शक्ति' द्वारा नियंत्रित किये जाने वाले प्राणी के रूप में स्वीकार नहीं करता। वह उसे एक विवेक-प्रधान प्राणी के रूप में देखता है[३२] और यही कारण है कि नियंत्रण के लिए 'शक्ति' के अतिरिक्त किसी अन्य विकल्प की सम्भावना की ओर से उसने आँखें नहीं मूँदी हैं। इसके साथ ही शान्तिपर्व ने व्यक्ति और समाज दोनों के ही अस्तित्वों को समान महत्व प्रदान किया है। यदि किसी एक व्यक्ति के उच्चतम कल्याण के लिए सारे समाज का बलिदान उसकी दृष्टि में अनुचित है तो सामाजिक उन्नति अर्थात् 'अभ्युदय' को चरम मानकर उसके लिए व्यक्ति का पूर्णतया बलिदान भी शान्तिपर्व उचित नहीं समझता और युधिष्ठिर का विद्रोह उसकी इसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है, यह दूसरी बात है कि वैयक्तिक उत्कर्ष का युधिष्ठिर का धरातल भौतिक के स्थान पर आध्यात्मिक हो गया है। उपर्युक्त दोनों अतिवादों का खण्डन कर अन्ततोगत्वा शान्तिपर्व तीसरे विकल्प की ओर मुड़ता है और वर्णाश्रम धर्म, सामान्य धर्म आदि के परम्परागत स्वरूप में उसे स्वीकार कर लेता है और इस प्रकार व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में संगति का आधार 'शक्ति' से स्थानान्तरित कर 'धर्म' तक ले आता है जिसका विवेचन नीचे किया जा रहा है।

'धर्म' की अवधारणा—सामञ्जस्य की समस्या के सन्दर्भ में

धर्म की प्राथमिक अवधारणा असंदिग्ध रूप से 'ऋत' के साथ समीकृत की जाती है[३३] और इस प्रकार अपने व्यापकतम अर्थों में 'धर्म' सम्पूर्ण ब्रह्मांड को धारण करने, नियमित करने और संचालित करने की व्यवस्था के रूप में सामने आता है[३४] किन्तु व्यावहारिक धरातल पर उसका कार्यक्षेत्र मानव और उसके समाज तक ही सीमित रहता है तथा एक सामञ्जस्य-सूत्र के रूप में वह व्यक्ति और समाज के अन्त-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सम्बन्धों को संगत बनाने की व्यवस्था का रूप ग्रहण कर लेता है।[३५] 'धृ' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण धारण करने का स्वाभाविक गुण उसकी परिभाषा से ही अंकुरित होता है[३६] और इसी अर्थ में उसका प्रयोग किया जाता है।[३७] सृष्टि-योजना के साथ सन्दर्भित होने पर वह सम्पूर्ण ब्रह्मांड का धारक होकर ऋत का पर्याय बन जाता है तो भौतिक धरातल पर लाये जाने पर वह भौतिक जगत को धारण करता है तथा उसे आधार प्रदान करता है।[३८] 'धर्म' का यह अवधारक स्वरूप तैत्तिरीय आरण्यक के उस कथन में झलकता है जिसमें यह कहा गया है कि 'धर्म जगत की प्रतिष्ठा एवं स्थायित्व का कारण है और इसलिए वह सबसे श्रेष्ठ है।'[३९] इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद का यह कथन कि 'जैसे कोई व्यक्ति राजा की सहायता से किसी को अभिभूत कर सकता है वैसे ही धर्म के माध्यम से निर्बल व्यक्ति बलवान को अभिभूत करने की आशा करता है'[४०] तैत्तिरीय आरण्यक के उपर्युक्त कथन के साथ मिलाकर देखने पर 'धर्म को लोक में व्यवस्था बनाये रखने के एक साधन के रूप में अवधारित करता है और उसके (धर्म के) सामाजिक स्वरूप की उद्भावना का प्रयास करता है।

धर्म की सामाजिक उद्भावना व्यक्ति और व्यक्ति तथा व्यक्ति और समाज के अन्तर्सम्बन्धों में सामञ्जस्य-स्थापन के प्रयासों के परिणामस्वरूप सामने आती है क्योंकि प्राचीन भारतीय साहित्य एवं पुरावृत्तों में अराजक अथवा मात्स्यन्याय युग की कल्पनायें 'धर्म' के अभाव में[४१] इस सामञ्जस्य के बिगड़ जाने के बाद की स्थितियों की ही कल्पनाएं हैं जिसमें जगत (समाज) की प्रतिष्ठा एवं स्थायित्व खतरे में पड़ जाते हैं और बलवान दुर्बलों को सताने लगते हैं। शान्तिपर्व के परम्परागत दृष्टिकोण में भी धर्म का यह लौकिक सामञ्जस्यपरक स्वरूप ही अधिक स्पष्ट होकर सामने आता है। शान्तिपर्व लोकयात्रा का समुचित निर्वाह करने के लिए ही धर्म की आवश्यकता पर बल देता है।[४२] उसका धर्म धारण करने के लिए ही धर्म है और वही प्रजाओं को धारण करता है।[४३] यद्यपि 'धर्म' का आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक स्वरूप भी शान्तिपर्व की समग्रता में काफी स्पष्टता के साथ उभरता हुआ दिखायी देता है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शान्तिपर्वकार ने धर्म के सामाजिक स्वरूप की प्रतिष्ठा को अधिक महत्व प्रदान करने का प्रयास किया है[४४] क्योंकि समाज में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

व्यवस्था एवं स्थायित्व के अभाव में पारलौकिक उपलब्धि एक दुराशा मात्र बनकर रह जाती है। सामान्य धर्म के द्वारा वैयक्तिक आचरण का संस्कार कर जहाँ शान्तिपर्व ने व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ने की चेष्टा की है वहीं वर्णधर्म के माध्यम से समाज के सारे सदस्यों को उनकी प्रवृत्ति एवं संस्कारों के अनुसार चार वर्णों में विभाजित कर उनके पारस्परिक सामञ्जस्य एवं सहकार के द्वारा एक व्यवस्था स्थापित की है और इस प्रकार सामाजिक गतिशीलता को नैरन्तर्य प्रदान किया है। लोकजीवन और लोकव्यवस्था का समुचित निर्वाह संभव बनाने के लिए ही धर्म की मर्यादा स्थापित की गयी है अतः जिस किसी माध्यम से भी लोकयात्रा का सफल निर्वाह हो सके, वह धर्म है, इसके विपरीत लोकयात्रा में अवरोध उत्पन्न करने वाले सभी तत्व अधर्म हैं[४५] और ऐसे अवरोधक तत्वों का प्रतिकार करने के लिए किए गए सारे प्रयत्न 'धर्म' हैं, यदि उन प्रयत्नों से सामाजिक संतुलन के पुनर्प्रतिष्ठित हो सकने की सम्भावनायें हों। यही कारण है कि धर्म का क्षेत्र शान्तिपर्वकार की दृष्टि में वैयक्तिक आचरण के उत्कर्ष अथवा वर्णगत धर्मों के पालन मात्र तक ही सीमित नहीं है। समाज में सामञ्जस्य और सहकार को बढ़ावा देने वाले तथा शान्ति और न्याय की व्यवस्था स्थापित करने वाले सभी प्रयत्न भी धर्म की कोटि में ही आते हैं भले ही वह योद्धाओं का हिंसा और छलछद्म से युक्त क्षात्रधर्म ही हो।[४६] इसी प्रकार दमनकारी व हिंसाप्रधान दण्ड का प्रयोग करने वाला राजधर्म भी धर्म ही है क्योंकि उसके कारण समाज में धर्म और न्याय की व्यवस्था बनी रहती है और लोकयात्रा का सफल निर्वाह सम्भव हो पाता है।[४७] इसके अतिरिक्त कुल धर्म, देशधर्म, कालधर्म, गुणधर्म, श्रेणीधर्म आदि धर्म के अन्य प्रकार भी शान्तिपर्व में बताए गए हैं क्योंकि अपनी-अपनी परिधियों में ये सभी पारस्परिक सहयोग और सहकार के द्वारा समाज में सामञ्जस्य की भावना को बल प्रदान करते हैं और 'व्यक्ति' की वैयक्तिकता का विकास कर उसे 'मनुष्य' का रूप देते हैं।

सामञ्जस्य-सूत्र के रूप में धर्म की नमनीयता एवं गतिशीलता

'धर्म' भारतीय विचारधारा में इस प्रकार बल अथवा दण्ड के भय से अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने वाले विवश प्राणियों में विवेक उत्पन्न कर उन्हें स्वेच्छा से कर्तव्यपालन के लिए प्रेरित करने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की व्यवस्था है। इस रूप में वह दण्ड का विरोध नहीं करता बल्कि अपनी व्यापकता में उसे भी समाविष्ट कर वह उसके (दण्ड के) औचित्य को आधार प्रदान करता है।[४८] भारतीय विचारधारा व्यक्ति को विवेक-सम्पन्न प्राणी मानते हुए भी उसकी स्वाभाविक स्वार्थपरता को अनदेखा नहीं करती और यही कारण है कि लोकव्यवस्था और लोकव्यापार को वह मात्र व्यक्ति की इच्छा और विवेक का विषय बनाकर ही नहीं छोड़ देती, 'दण्ड' के प्रयोग को भी आवश्यक और अनिवार्य बना देती है और उसे धर्म का आवरण प्रदान करती है[४९] किन्तु इसके साथ ही साथ दण्ड के निरंकुश बन सकने की कोई गुंजाइश वह नहीं रहने देती और धर्म के द्वारा उसके नियंत्रण का प्रयास करती है।[५०] धर्म का अतिक्रमण करने पर दण्ड स्वयं दण्डधर को ही नष्ट कर डालता है।[५१] धर्म और दण्ड इस प्रकार अन्योन्याश्रित होकर सामने आते हैं।[५२] धर्म की व्यवस्था दण्ड द्वारा नियमित की जाती है और दण्ड की निरंकुशता को धर्म नियंत्रित करता है। दण्ड और धर्म इस प्रकार अलग-अलग होने की भ्रान्ति देते हुए भी अन्ततोगत्वा एक ही हैं और उनके अन्तर्सम्बन्ध भारतीय विचारधारा में 'धर्म' की नमनीयता और परिवर्तनशीलता को अभिव्यक्त करने के माध्यम हैं। धर्म की व्यवस्था कोई स्थिर अथवा जड़ व्यवस्था नहीं है।[५३] उसमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं और उसे देश, काल तथा परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही जाना जा सकता है। धर्म का यह नमनीय और गतिशील स्वरूप शान्तिपर्व के उन कथनों में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है जिसमें कहा गया है कि 'देश और काल के सन्दर्भ में ही धर्म-अधर्म का निर्धारण किया जा सकता है'[५४] तथा 'एक ही धर्म कभी तो धर्म हो जाता है और कभी अधर्म।'[५५] धर्म की गति को शान्तिपर्व अत्यन्त सूक्ष्म बताता है[५६] और इस कारण उसके स्वरूप की कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं की जा सकती। न केवल शान्तिपर्व अपितु सम्पूर्ण महाभारत में मानवीय आचरण की द्वैतात्मकता के मध्य धर्माधर्म का चिरपुरातन द्वैत ही देखने को मिलता है और धर्म के स्वरूप में होने वाली भ्रान्ति इसी के परिणामस्वरूप सामने आती है किन्तु महाभारत की विषयवस्तु को यदि प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूल्यों और मान्यताओं की समग्रता में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रखकर उसका अध्ययन किया जाय तो यह भ्रान्ति एक सतही भ्रान्ति बनकर रह जाती है जिसे दृष्टिदोष के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। धर्म 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' का प्राप्त कराने का साधन है[५७] किन्तु 'निःश्रेयस्' जहाँ नितान्त वैयक्तिक तथा पारलौकिक उपलब्धि है, 'अभ्युदय' भौतिक धरातल पर सामाजिकता के आवरण में वैयक्तिकता की सीमा से बढ़कर सामूहिक या सामुदायिक हो जाता है।[५८] उसका विस्तार 'व्यक्ति' से 'मनुष्य' तक हो जाता है और इस रूप में वह समाज और संसार के सन्दर्भ में अभिव्यक्त होता है।[५९] उसका धरातल निःश्रेयस् की अपेक्षा प्राथमिक है क्योंकि संसार में जन्म लेने वाला प्राणी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही आधिभौतिक उपलब्धि की ओर अग्रसर हो सकता है।(५९क) 'धर्म' का क्षेत्र इस प्रकार प्राथमिक रूप से भौतिक जगत ही है। भौतिक धरातल पर समाज में व्यवस्था का नियमन और संचालन उसका प्रमुख उद्देश्य है।[६०] प्रत्येक को भौतिक धरातल पर उसका प्राप्तव्य दिलाना और समाज में शान्ति और व्यवस्था के स्थापन द्वारा आध्यात्मिक उत्कर्ष तक पहुँचने की सुविधा प्राप्त कराना, यही उसके अन्तिम लक्ष्य हैं।[६१] इस लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में किए गए सारे कर्म धर्म हैं, भले ही ऊपर से देखने पर वे धर्म का अतिक्रमण करते हुए दिखायी पड़ें।[६२] हिंसा और छलछद्म को पाप और अधर्म मानते हुए भी महाभारतकार ने युद्ध में पाण्डवों की ओर से किए गए धर्मातिक्रामक कर्मों को न्यायसंगत और धर्म ही माना है क्योंकि उनका पक्ष न्याय और धर्म का पक्ष था और इन कर्मों को उन्होंने अधर्मदमन और दुष्टदलन के उच्चतर उद्देश्य से किया था।[६३] शान्तिपर्व ने भी यद्यपि हिंसा का विरोध और सत्य तथा अहिंसा के प्रतिपादन में अध्याय के अध्याय रंग दिए हैं किन्तु अधर्मियों का वध और दुष्टों का दमन करने के लिए हिंसा और छल को भी धार्मिक आधार प्रदान किया है और इसे सम्पादित करने वाले क्षात्रधर्म तथा राजधर्म को सबसे बड़ा धर्म माना है।[६४] 'नास्ति सत्यात् परम् तपः'[६५] का प्रतिपादक शान्तिपर्व कुछ विशेष परिस्थितियों में झूठ बोलने को भी धर्म ही ठहराता है।[६६] अपरिग्रह, सन्यास और वैराग्य के पक्ष में शान्तिपर्व की विषयवस्तु में अध्याय के अध्याय भरे पड़े हैं किन्तु दूसरी ओर राजाओं के लिए ज्ञातिवध तक की कीमत पर लौकिक ऐश्वर्यों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का उपभोग धर्म बताया गया है और गृहस्थधर्म का पालन तो परम धर्म है ही।[६७] भक्ष्याभक्ष्य की एक लम्बी तालिका देने के बाद और अभक्ष्य-भक्षण को अधर्म[६८] बताने के बावजूद भी चाण्डाल के घर से कुत्ते की जाँघ का हिस्सा चुराते हुए पकड़े गए क्षुधापीड़ित विश्वामित्र के तर्कों के माध्यम से शान्तिपर्व 'अभक्ष्य-भक्षण' के दोष का परिहार कर उनके इस कृत्य का भी धार्मिक औचित्य प्रस्तुत करता है।[६९] वर्णधर्म का प्राण देकर भी पालन करने के लिए प्रेरित करने वाला शान्तिपर्व ही कुछ विशेष परिस्थितियों में उनके उल्लंघन की भी अनुमति देता है और आपद्धर्म के रूप में इस उल्लंघन को एक धार्मिक आधार प्रदान कर देता है।[७०] शान्तिपर्व में प्राप्त ये सभी उदाहरण यद्यपि धर्म का अतिक्रमण करने वाले उदाहरणों के रूप में सामने आते हैं किन्तु प्राचीन भारतीय मूल्यबोध के परिप्रेक्ष्य में 'धर्म' की अवधारणा और उसके उद्देश्य को भलीभाँति समझ लेने पर इस तरह की कोई भ्रान्ति नहीं रह जाती। 'धर्म' मूलतः एक व्यवस्था है जिसके कारण समाज में सामञ्जस्य और सहकार का विकास सम्भव हो पाता है और सामाजिक जीवन की गतिशीलता और निरन्तरता बनी रहती है। सुव्यवस्थित और सुसंचालित समाज में ही व्यक्ति अपने भौतिक हितों को प्राप्त करता हुआ उच्चतम आत्मिक उत्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास कर सकता है।([७०क]) ऐसे समाज में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए धर्म सामञ्जस्य-सूत्र के रूप में सामने आता है जो एक तरफ तो व्यक्ति के वैयक्तिक हितों को भरसक पूरा करने का प्रयास करता है और दूसरी तरफ उसे अपने सामाजिक दायित्वों का पालन करने की प्रेरणा देता है। वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही हितों की पूर्ति आवश्यक है किन्तु यदि दोनों में टकराव होता है तो धर्म सामूहिक हित की वेदी पर वैयक्तिक हित को बलिदान कर देता है[७१] क्योंकि इससे क्षति तो किसी एक की ही होती है किन्तु कल्याण एक समूह का होता है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण धर्म ऐसे कर्मों को करने की भी अनुमति प्रदान करता है जो सामान्यतः धर्म का अतिक्रमण समझे जाते हैं। साध्य उसके लिए प्रमुख है, साधन गौण। यद्यपि साधन की पवित्रता उसके लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है तथापि उसका महत्व तभी तक है जब तक कि अन्य साधन भी उपलब्ध हों जिनकी सापेक्षता में प्रयुक्त साधन की पवित्रता का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मूल्यांकन किया जा सके[७२] किन्तु साध्य की पवित्रता के समक्ष साधन की पवित्रता-अपवित्रता का प्रश्न गौण हो जाता है और तथाकथित अपवित्र साधनों के द्वारा भी पवित्र साध्य की प्राप्ति का प्रयास शान्तिपर्व की दृष्टि में धर्म ही ठहरता है और धर्म का यह गतिशील स्वरूप 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस्' की सीमाओं में दिग्भ्रमित मानव-जीवन का व्यावहारिक धरातल प्रस्तुत कर पारस्परिक सामञ्जस्य और साहचर्य के माध्यम से उन दोनों को ही उसके लिए प्राप्तव्य बना देता है।

———

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. विष्णुपुराण, १.६.११—१५; पद्मपुराण, १.३.१३५–१३६; ५.३.१२७—१३१; ओम प्रकाश, पोलिटिकल आइडियाज इन द पुराण, पृ० २८

२. भौतिक धरातल पर मानव-जीवन उसकी भौतिक आवश्यकताओं की विवशताओं से प्रारम्भ होता है। मानव-स्वभाव में बुराई का प्रादुर्भाव भी इन विवशताओं के परिणामस्वरूप होता है। कृतयुग की आत्मनिर्भर परिस्थितियों में इन विवशताओं का पूर्णतया अभाव होने के कारण मानव-स्वभाव में बुराई का कोई अंश नहीं प्रविष्ट हो सका था फल-स्वरूप भारतीय पुरावृतों में कृतयुग नैतिकपूर्णता के युग के रूप में अवधारित किया गया है किन्तु आत्मनिर्भरता का यह युग समाप्त होते ही भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति मानव-जीवन की सबसे बड़ी विवशता के रूप में सामने आयी। यहीं से मानव-स्वभाव का द्वैतात्मक स्वरूप प्रकट हुआ और उसमें बुराई का समावेश हो गया। यहीं से भौतिक धरातल पर मानव-जीवन का प्रारम्भ हुआ जो कृतयुग की नैतिक पूर्णता से च्युत होने के कारण मानव-स्वभाव के पतन को द्योतित करता है।

३. राधाकृष्णन्, एस०, द स्पिरिट ऑव रिलिजन, पृ० ६०

४. जीवन का उच्चतम लक्ष्य मोक्ष इस कर्मभूमि में रहकर प्रयास करने पर ही प्राप्त हो सकता है। यही कारण है कि स्वर्ग में सारे ऐन्द्रिक सुखों की अधिकतम उपलब्धि के बावजूद देवता भी पृथ्वी पर जन्म लेने को लालायित रहते हैं क्योंकि कर्म-स्वातन्त्र्य न होने के कारण उनके लिए अपनी ही स्थिति से मोक्ष प्राप्त कर सकना असम्भव है। मोक्ष के लिए उन्हें पृथ्वी पर आकर ही प्रयास करना पड़ेगा।

शान्तिपर्व, २७१.४१–४२; विष्णुपुराण, २.३.२४; ओम प्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ० २०.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

५. यही कारण है कि यूनानी विचारधारा में मानव-जीवन का उच्चतम लक्ष्य (Summum bonum) होते हुए भी राज्य और समाज जैसी संस्थायें भारतीय विचारधारा में जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक साधन की स्थिति से ऊपर नहीं उठ पायीं।
देखिए—सिनहा, ए० के०, 'हाइरार्की एण्ड इथिकल थियरी,' पृ० ६१.

६. वैयक्तिकता के इस स्वरूप को समाज और राज्य के सन्दर्भों में ही जाना जा सकता है क्योंकि ये संस्थायें 'व्यक्ति' के अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तर्सम्बन्धों के परिणामस्वरूप उद्भूत होती है और जहाँ एक तरफ समष्टि के नाम पर उसकी 'वैयक्तिकता' को कुछ सीमा तक नियंत्रित करती हैं वहीं एक निश्चित सीमा के अन्दर उसे स्वतन्त्र भी बनाए रखती हैं। वैयक्तिकता का यह स्वरूप इसीलिए सापेक्ष है और इसी अर्थ में वह कृतयुगीन तथा मोक्ष के स्तर तक पहुँचाने वाली वैयक्तिकता से अलग किया जा सकता है।

७. इसका प्रधान कारण सभ्यता का कृत्रिम और बाह्य होना है जबकि स्वभाव एक मौलिक तत्व है जो पूर्वजन्मों में व्यक्ति द्वारा किए गए कर्मों के अनुसार वर्तमान जन्म में बने उसके संस्कार के अनुरूप ही बनता है और उसमें किसी भी तरह का कोई परिवर्तन कर सकना व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर की बात है (शान्ति०, १७२.११)। सभ्यता और स्वभाव का साथ-साथ विकास केवल त्रिवर्ग की सीमा तक हो सकता है और यही मानव के सामाजिक व्यक्तित्व की भी अन्तिम सीमा है। चतुर्वर्ग अर्थात् मोक्ष का क्षेत्र नितान्त वैयक्तिक होने के कारण सभ्यता की धारा फिर पीछे की ओर मुड़ जाती है क्योंकि सभ्यता का अन्तिम उद्देश्य व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़कर सामाजिकता को बढ़ावा देना है। (देखिए—मुकर्जी, राधाकमल, द डेस्टिनी ऑव सिविलि-जेशन, बम्बई, १९६४, पृ० १, ६) किन्तु स्वभाव के विकास की धारा सभ्यता की धारा को पीछे छोड़कर अपनी राह में आगे बढ़ जाती है क्योंकि उसका अन्तिम उद्देश्य सामाजिकता आदि के कृत्रिम आवरण से स्वयं को मुक्त कर अपने वास्तविक स्वरूप को जानने में है।

८. इसी की व्यावहारिक अभिव्यक्ति भारतीय विचारधारा में सन्यास आश्रम के प्रतिपादन द्वारा की गयी है।

९. वर्मा, वी. पी., 'ह्यूमन पर्सनॉलिटी एण्ड पॉलिटिक्स', रीडिंग्स इन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इण्डियन हिस्ट्री, पॉलिटिक्स एण्ड फिलासफी, (सं०) के. एस. मूर्ति, लंदन, १९६७, पृ० १३९.

१०. विविध आख्यानों और उपदेशों के माध्यम से सामाजिक सम्बन्धों को मिथ्या और संयोग पर आधारित बताकर उन्हें नकारते हुए वैयक्तिक उत्कर्ष की उच्चता को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करने वाले वक्तव्यों में शान्तिपर्व का यह प्रयत्न अत्यधिक स्पष्ट होकर उभरा है।

देखिए—शान्ति०, १६८.११–१६; १६९.१५–१७; २४–२५, ३४, ३६;

११. मात्स्यन्याय तथा अराजक के वर्णन वैयक्तिक स्वेच्छाचारिता के वर्णन है। 'दण्ड' इस वैयक्तिक स्वार्थपरता का दमन कर सामूहिक हितों की रक्षा और व्यवस्था करता है किन्तु दण्ड के प्रयोग में जरा सा भी प्रमाद फिर वैयक्तिक निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता को जन्म देता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानव-स्वभाव अपने मौलिक स्वरूप में पूर्णतया वैयक्तिक होता है और वैयक्तिक हितों के द्वारा ही संचालित होता है। सामाजिकता का महत्व उसके मौलिक स्वरूप में ऊपर से लादी गयी विवशता है जो कभी तो अपने भौतिक हितों की पूर्ति अकेले न कर सकने की असमर्थता के परिणामस्वरूप सामने आती है तो कभी सामूहिक हितों की रक्षा के लिए तत्पर 'दण्ड' के भय से अभिव्यक्त होती है। इन दोनों विवशताओं के कारण ही व्यक्ति और समाज के अन्तर्विरोध दबे रहते हैं जो अवसर पाते ही फूट पड़ते हैं और मात्स्यन्याय तथा अराजकता का रूप ग्रहण कर सामने आ जाते हैं।

१२. शान्ति०, १५.३४; मनु०, ७.२२,

१३. यहाँ तक कि स्वयं दण्डधर 'राजा' तक की वैयक्तिक स्वार्थपरता और स्वेच्छाचारिता को नियंत्रित करने का विधान किया गया है तथा वेन और नहुष इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

शान्ति०, ५९.१००; ३२९.१४, ३८; मनु०, ७.१९, २७–३०; याज्ञ०, १.३४१,

१४. दण्डधर राजा का प्रधान कर्तव्य प्रजारक्षण और वर्ण-व्यवस्था को बनाए रखना बताया गया है तथा वर्ण-व्यवस्था 'व्यक्ति' के सामाजिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१५. वास्तव में मानव-स्वभाव के इस उच्चतम स्तर तक पहुँचने पर उसका द्वैतभाव समाप्त हो जाता है। सामाजिकता का सारा बोध इस विराट वैयक्तिकता में समाहित हो जाता है। इस प्रकार कहने को यह स्थिति भले ही वैयक्तिकता की स्थिति कही जाय, किन्तु वास्तविक अर्थों में यह वह विराट वैयक्तिकता होती है जिसमें व्यक्ति और समाज की कोई अलग-अलग पहचान नहीं होती। मानव-स्वभाव का उच्चतम स्तर इस प्रकार वास्तविक अर्थों मे व्यक्ति व समाज के बीच अन्तर्विरोध का नहीं बल्कि उनके एकीकरण का स्तर है यद्यपि व्यावहारिक रूप में सन्यास आश्रम में समाज और सामाजिक दायित्वों को नकारने के कारण इसकी प्रतीति अन्तर्विरोध के रूप में ही होती है।

१६. लिलि, विलियम, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू इथिक्स, (पुनर्मुद्रित), दिल्ली, १९७५, पृ० २३९.

१७. मुकर्जी, राधाकमल, द सोशल स्ट्रक्चर ऑव वैल्यूज, दिल्ली, १९६५; पृ० iv; मूर्ति, के० एस० द इण्डियन स्पिरिट, पृ० १२; इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड इथिक्स, जिल्द—५, पृ० ४१८.

१८. कार, ई० एच०, ह्वाट इज हिस्ट्री, लंदन, १९६१ पुनंमुद्रित, १९७७, पृ० ३१–३२; मैकी, जे० एल०, इथिक्स, लंदन, १९७७, पृ० १६–१७; गुप्त, एस० एन०, द इण्डियन कांसेप्ट ऑव वैल्यूज, पृ० १९; सिनहा, ए० के०, 'हाइरार्की एण्ड इथिकल थियरी', पृ० ५८.

१९. यही कारण है कि शान्तिपर्व के अधिकांश प्रसगों में धर्म की अवधारणा सामञ्जस्य-सूत्र के रूप में ही देखने को मिलती है। वर्णधर्म तो सामाजिक सम्पर्क का माध्यम है ही, सामान्य धर्म के द्वारा भी सामञ्जस्य-स्थापन का ही प्रयास किया गया है क्योंकि वह भी व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ता है।

२०. चारों आश्रमों के धर्मों के क्रमशः पालन की अनिवार्यता पर दिया गया शान्तिपर्व का बल इसी तथ्य की अभिव्यक्ति है।

(२०क) क्रील, ए० बी०, पूर्वोद्धृत, पृ० १०५; राधाकृष्णन, एस०, रिकवरी ऑव फेथ, न्यूयार्क, १९५५, पृ० ८८; तथा रिलिजन एण्ड सोसाइटी, लंदन, १९४७, पृ० १२१.

२१. जीवन के भौतिक धरातल को नकारकर केवल सन्यास के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति इसीलिए शान्तिपर्व में सन्देह का विषय बना दी गयी है। शान्ति०, २१.१७.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

२२. गुप्त, एस० एन०, द इण्डियन कांसेप्ट ऑव वैल्यूज, पृ० ३-४;

२३. यही कारण है कि भारतीय विचारधारा में यदि सुखवादी चार्वाक दर्शन की आलोचना की गयी है तो भिक्षुप्रवृत्ति का प्रतिपादन करने के लिए बौद्ध एवं जैन धर्मों की भी निन्दा की गयी है।

२४. उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा में ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन करने के कारण यद्यपि प्रधान रूप से निवृत्तिपरकता के तत्व को ढूंढ़ा जाता है किन्तु उल्लेखनीय है कि 'भौतिक जीवन को नकारने की दृष्टि उपनिषदों में विरल रूप में ही देखने को मिलती है। विश्व आनन्द से बना है और आनन्द से व्याप्त है; दुःख-प्रपञ्च नहीं है। इस प्रकार उपनिषदों में दुःख की नहीं बल्कि आनन्द की मीमांसा मिलती है।' पाण्डे, जी० सी०, मूल्यमीमांसा, पृ० ४-५.

२५. गीता, शान्तिपर्व और कुछ सीमा तक मनुस्मृति का प्रणयन इसी प्रयास का परिणाम है।

२६. तुलनीय कोसम्बी, डी० डी०, द कल्चर एण्ड सिविलिजेशन ऑव एन्शिएन्ट इण्डिया, (हि० अनु०) पृ० ४०; शर्मा, आर० एस०, आस्पेक्ट्स ऑव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० ५३.

२७. वर्णधर्म, सामान्यधर्म, देशधर्म, कुलधर्म और गुणधर्म के बहुमुखी आवरण से युक्त होकर 'धर्म' इस आवश्यकता की पूर्ति करता है। तुलनीय, क्रील, ए० बी०, धर्म इन हिन्दू इथिक्स, पृ० ८३

२८. मानव स्वभाव का अध्ययन करने के प्रयास में वैयक्तिकता का यही स्वरूप मैकियावेली, हॉब्स और कुछ सीमा तक कौटिल्य जैसे विचारकों की विचारधारा में अभिव्यक्त होता है।

२९. रूसो व हीगेल की सामूहिक इच्छा (General will) की अवधारणा की आधारभूमि ही यह भावना है। देखिए, सैबाइन, जी० एच०, पूर्वोद्धृत, पृ० ५८६—५८६ तथा ६६५, ७१६; जोन्स, डब्ल्यू० टी०, मास्टर्स ऑव पोलिटिकल थॉट, जि० द-२, लंदन, १६५६, पृ० २६४—२६८.

३०. व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में यह असंगति ही मार्क्सवाद की आधारभूमि है। यद्यपि उसके अनुसार अल्पसंख्यकों की शक्ति का स्रोत राजशक्ति अथवा दण्डशक्ति न होकर उत्पादन के साधनों पर उनका नियन्त्रण है। 'अर्थ' की 'शक्ति' से कुछ 'शक्तिशाली

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लोग' बहुत सारे 'अशक्तों' पर शासन करते हैं और इस प्रकार सामाजिक असंतुलन को बढ़ावा देते हैं। मार्क्सवाद का लक्ष्य वर्ग-संघर्ष के द्वारा इस असंतुलन को मिटाकर एक ऐसे वर्गरहित समाज का निर्माण करना है जिसमें सामञ्जस्य और सहकार के द्वारा सामूहिक हित के माध्यम से वैयक्तिक हितों की पूर्ति हो सके और सामाजिक संतुलन बना रह सके। देखिए, बर्न्स ई०, मार्क्सवाद क्या है, (हि० अनु०) ओम प्रकाश संगल, (आठवाँ सं०) दिल्ली, १९८०, पृ० १४—१६

३१. 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' के उद्घोष में प्राण की कीमत पर भी वर्णधर्म का पालन करने की प्रेरणा के मूल में व्यक्ति पर समाज की वरीयता का तथ्य ही छिपा हुआ है और इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण क्षात्रधर्म है जिसके अन्तर्गत सबसे बड़ा धर्म प्रजारक्षण और सबसे बड़ा आदर्श इस धर्म का पालन करते हुए समरांगण में मर जाना है।
देखिए, सिनहा, ए० के०, शान्तिपर्व में क्षात्रधर्म की अवधारणा, जर्नल ऑव गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जिल्द-३४, भाग-३-४, इलाहाबाद, १९८०, पृ० १७०—१७१

३२. विवेक अथवा धर्म का यह तत्व ही शान्तिपर्व की दृष्टि में मनुष्य और पशु के बीच विभाजक रेखा खींचकर उन्हें अलग-अलग कोटियों में रखता है अन्यथा सारी जैविक प्रवृत्तियाँ दोनों में एक समान ही होती है।

'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतद्पशुर्भिनराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिकोविशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः ।।

शान्ति०, २९४.२९, भारतीय नीति का विकास में, पृ० २ पर उद्धृत

३३. कीथ, ए० बी०, रिलिजन एण्ड फिलासफी ऑव द वेद एण्ड उपनिषद्स, हार्वर्ड, १९२५, पृ० २४९; सक्सेना, एस० के०, 'मारल फिलासफी ऑव इण्डिया' स्टडीज इन द कल्चरल हिस्ट्री ऑव इन्डिया, पृ० ४०९; क्रील, ए० बी०, पूर्वोद्धृत, पृ० ३; मूर्ति, के० एस०, द इण्डियन स्पिरिट, पृ० १८७;

अर्नाल्ड कुन्स्ट के अनुसार धर्म का क्षेत्र ऋत द्वारा अनुदिष्ट कर्मों के गुणों और परिणामों में निहित है। ऋत में सृष्टि के सारे तत्वों का समावेश हो जाता है जबकि धर्म कर्म करने की वह प्रेरणा है जो सभी प्राणियों को ऋत की देन है।

देखिए—कुन्स्ट, अर्नाल्ड, 'यूज एण्ड मिसयूज ऑव धर्म' द

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कांसेप्ट ऑव ड्यूटी इन साउथ एशिया, (सं०) डेरेट, जे० डी० एम०, व ओ' फ्लेहार्टी, डब्लू० डी०, दिल्ली, १६७८, पृ० ६

३४. क्रील, वही; लिंगात, आर०, क्लासिकल ला ऑव इण्डिया (अंग्रेजी अनु०) जे० डी० एम० डेरेट, लंदन, १६७३, पृ० ३; ओम प्रकाश, पोलिटिकल आइडियाज इन द पुराण, पृ० १२३; ब्राउन, डी० एम०, द ह्वाइट अम्ब्रेला : इण्डियन थॉट फ्रॉम मनु टू गाँधी, बर्कले, १६५३, पृ० २५; कॉलर, जे० एम०, धर्म: ऐन एक्सप्रेशन ऑव युनिवर्सल ऑर्डर' फिलासफी : ईस्ट एण्ड वेस्ट २२ (१६७२), पृ० १३४.

३५. एडगर्टन, एफ०, 'डॉमिनेन्ट आइडियाज इन द फार्मेशन ऑव इण्डियन कल्चर', जर्नल ऑव द अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी, ६२ (१६४२), पृ० १५१; जिमर, एच०, फिलासफीज ऑव इण्डिया, न्यूयार्क, १६५६, पृ० १५२; आयंगर, के० वी० आर०, सम आस्पेक्ट्स ऑव हिन्दू व्यू ऑव लाइफ एकार्डिंग टू धर्मशास्त्र, बड़ौदा, १६५२, पृ० ६२; काणे, हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द—२, पृ० २; राधाकृष्णन, रिलिजन एण्ड कल्चर, दिल्ली, १६६८, पृ० १६.

३६. राधाकृष्णन, एस., द हिन्दू व्यू ऑव लाइफ, लंदन, १६२७, पृ० ५६; ओम प्रकाश, वही, पृ० ८१; क्रील, वही, पृ० ३; हिरियन्ना, इण्डियन कंसेप्शन ऑव वैल्यूज, पृ० १५३; काणे, हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द–१, भाग–१, पृ० १.

३७. 'धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः ।'
कर्णपर्व, ७२.५८; शान्तिपर्व, ११०.११;

३८. हिरियन्ना, इण्डियन कंसेप्शन ऑव वैल्यूज, पृ० १५६; दास, भगवान, द साइन्स ऑव सोशल आर्गनाइजेशन, मद्रास, १६१०, पृ० १२३; ओम प्रकाश, वही, पृ० १२३; सेनगुप्त, एन० जी०, सोर्सेज ऑव ला एण्ड सोसाइटी इन एन्शिएन्ट इण्डिया, पृ० २७.

३९. तैत्तिरीय आरण्यक सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम सीरीज, १०.६३.१

४०. बृहदारण्यक उपनिषद, १.४.१४; राधाकृष्णन, एस०, द प्रिन्सिपल उपनिषद्स, लंदन, १६५३, पृ० १७०.

४१. यद्यपि इन वर्णनों में मात्स्यन्याय अथवा अराजकता का कारण 'दण्ड' का न होना बताया गया है किन्तु प्राचीन भारतीय संस्कृति की समग्रता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में देखने पर 'दण्ड' को 'धर्म' से अलग नहीं किया जा सकता। वह वस्तुतः धर्म की शक्ति का ही बाह्यीकरण है। मात्स्यन्याय अथवा अराजकता का कारण इस प्रकार अन्ततोगत्वा धर्म का अभाव ही ठहरता है जिसके कारण अव्यवस्था फैल जाती है। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए धर्म की शक्ति 'दण्ड' के रूप में सामने आती है और अव्यवस्था का विनाश कर समाज में व्यवस्था की स्थापना करती है।

४२. शान्तिपर्व, १५.४६; २५१.४,

४३. वही, ११०.११,

४४. शान्तिपर्व की सम्पूर्ण विषयवस्तु में वर्णाश्रम धर्म की केन्द्रीयता, राजधर्म तथा क्षात्रधर्म की प्रमुखता तथा स्थान-स्थान पर प्रवृत्तिपरक धर्म की निवृत्तिपरक धर्म के ऊपर वरीयता स्थापित करने के प्रयास से इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

४५. वायुपुराण, १.५६.२८; ब्रह्मांड०, २.३२.२६; देखिए, क्रील, ए. बी., धर्म इन हिन्दू इथिक्स, पृ० ८६ पर उद्धृत राधाकृष्णन का कथन; यमुनाचार्य, एम., 'द कांसेप्ट ऑव धर्म एण्ड इट्स इम्प्लीकेशन्स टू द न्यू सोसाइटी', प्रोसीडिंग्स ऑव द इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस, २८वाँ अधिवेशन, बड़ौदा, १९५३, पृ० ३३, ३७, ४३।

४६. विस्तार के लिए देखिए—इसी पुस्तक का तृतीय अध्याय 'सामाजिक स्थायित्व का साधक : क्षात्रधर्म'।

४७. शान्ति०, १४.१६–१७; १५.१२, ३३–३४; ६३.२५; ६४.२०–२१; मनु०, ७.१८,२२; अर्थ०, १.४.१३, १४, १६; कामन्दक, २.३८

४८. मत्स्यपुराण, २२५.८; विष्णुपुराण, १.७.२०; मनु०, ७.२५, २८; हिरियन्ना, इण्डियन कंसेप्शन ऑव वैल्यूज, पृ० १५३–१५४; ओम प्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ० ८८—८९;

४९. शान्तिपर्व में राजधर्मानुशासनपर्व के अन्तर्गत ऐसे कई अध्याय प्राप्त होते हैं जिनमें दण्ड के न रहने पर उत्पन्न होने वाली अराजकतापूर्ण स्थितियों का वर्णन किया गया है और उनके दमन के लिए 'दण्ड' की आवश्यकता महसूस की गयी है। शान्ति०, १५.५–१०, २९–४५; १२१.९–११, ४७–४८, ५१–५७; १२२.१४; मनु०, ७.२०–२४;

५०. हिरियन्ना, इण्डियन कंसेप्शन ऑव वैल्यूज, १५३–१५४, ओमप्रकाश, पूर्वोद्धृत।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

५१. रामायण, ४.१२.३४; मनु०, ७.२७-२८, ११२-११३; याज्ञवल्क्य स्मृति, १.३४१; भविष्य पु०, १.१८१.१३,

५२. शान्ति०, १५.२, ४०; १२१.४७-४८; मनु०, ७.१७-१८; मनुस्मृति और पुराणों में दण्ड को धर्म का पुत्र बताया गया है। मनु०, ७.१४; विष्णु पुराण, १.७.२०;

५३. शर्मा, बी०, इथिको-लिटरेरी वैल्यूज ऑव द टू ग्रेट इपिक्स ऑव इन्डिया, दिल्ली, १९७८, पृ० ३८

५४. "भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि ।
कारणादेशकालस्य देशकालो स तादृशः ॥"
शान्तिपर्व, ७९.३१,

५५. वही, ३४.२०; ३७.८; १४०.८;

५६. वही, १२८.६; आदिपर्व, १९५.२६; वनपर्व, २०६.४२

५७. वैशेषिक सूत्र, १.१.३; भविष्य पुराण, १.१८१ ७; ओम प्रकाश, वही, पृ० १२३.

५८. 'निःश्रेयस्' का अर्थ जहाँ मोक्ष के रूप में पारलौकिक उपलब्धि है, 'अभ्युदय' लौकिक उपलब्धियों तक ही सीमित रह जाता है और इस अर्थ में उनका द्वैत श्रेय-प्रेय के द्वैत के रूप में अभिव्यक्त होता है। लौकिक उपलब्धियों की प्राप्ति सामाजिक स्थिरता और शान्ति के वातावरण में ही हो सकती है इसलिए लक्षणा से 'अभ्युदय' का अर्थ सामाजिक उन्नति हो जाता है और इस रूप में उसका अर्थ अधिक विस्तृत होकर, समाज अथवा समूह के अर्थ में जुड़ जाता है और अभ्युदय व्यक्ति की सांसारिक उन्नति का द्योतन करने वाला शब्द मात्र ही नहीं रह जाता, सामाजिक व्यवस्था व स्थिरता का द्योतक भी हो जाता है। तुलनीय, विल्हेल्म, एम०, 'द कांसेप्ट ऑव धर्म इन अर्थ एण्ड काम लिटरेचर', द कांसेप्ट ऑव ड्यूटी इन साउथ एशिया, पृ० ६६;

५९. क्रोल, ए० बी०, पूर्वोद्धृत, पृ० १०४-१०५; तुलनीय, राधाकृष्णन, 'द इन्डिविजुअल एण्ड सोशल आर्डर इन द हिन्दुइज्म', द इन्डिविजुअल इन ईस्ट एण्ड वेस्ट, (सं०) ह्यूजेस, ई० आर०, लंदन, १९३७, पृ० ११८, १५१; राधाकृष्णन, ईस्टर्न रिलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट, आक्सफोर्ड, १९३९, पृ० ३५५, ३८३.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(५६क) दाण्डेकर, आर० एन०, 'द रोल ऑव मैन इन हिन्दूइज्म', द रिलिजन ऑव द हिन्दूज, (सं०) के० डब्लू० मोरगन, न्यूयार्क, १९५३, पृ. १३४.

६०. जिमर, एच०, पूर्वोद्धृत, पृ० १५२; तुलनीय, वर्मा, वी० पी०, स्टडीज इन हिन्दू पोलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउन्डेशन्स, दिल्ली, १९५५, पृ० १५५-१५६, क्रील, ए० बी०, वही, पृ० ५, वोरा, डी० पी०, इवोल्यूशन ऑव मारल्स, पृ० १८४.

६१. धर्म का यह स्वरूप राजधर्म तथा दण्ड के स्वरूप में अभिव्यक्त होता है ।

६२. देखिए—देवराज, एन० के०, द माइन्ड एण्ड स्पिरिट ऑव इण्डिया, दिल्ली, १९६७, पृ० १७६; मीज, जी० एच०, धर्म एण्ड सोसाइटी, लंदन, १९३५, पृ० १८

६३. दासगुप्ता, सुरमा, डेवलपमेन्ट ऑव मॉरल फिलासफी इन इण्डिया, बम्बई, १९६१, पृ० १५,

६४. शान्ति०, ६३.२५; ६४.२५, २६

६५. शान्ति०, ११०.४; १५६.३-५, २४; १६६.२६-२७; १८३.१; अयोध्याकाण्ड, १०१.१०, ११-१४,

६६. शान्ति०, ३५.२५; ११०.५; १५६.२८

६७. शान्ति०, ८.२८-३७; ११.१५;

६८. शान्ति०, ३७.१६-२६;

६९. शान्ति०, १३९.५१, ५९-६१, ८४, ८६

७०. शान्तिपर्व की विषयवस्तु में आपद्धर्मपर्व का समावेश इसका स्पष्टतम उदाहरण है ।

(७०क) लिंगात, आर०, क्लासिकल ला ऑव इण्डिया, पृ० ३

७१. शान्ति०, ३४.१९; वैयक्तिक आचरण की कीमत पर भी समाज में धर्म और न्याय की व्यवस्था की स्थापना करने वाले 'क्षात्रधर्म' की मुक्त कंठ से प्रशंसा कर शान्तिपर्व अपने इसी दृष्टिकोण का परिचय देत है । तुलनीय, क्रील, ए० बी०, पूर्वोद्धृत, पृ० ७;

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

७२. यही कारण है कि राजधर्म के अन्तर्गत हिंसापरक दण्ड नीति को तभी प्रयोग में लाने की अनुमति दी गयी है जब अन्य साधन निष्फल हो जायँ ।

शान्ति०, ६९.२२–२३; मनु०, ७.१९८, २००; याज्ञ०, १.३४६ तथा कामन्दक०, १८.१; शर्मा, बी०, इथिको-लिटरेरी वैल्यूज, पृ० २२०.

———

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संक्षिप्त सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(SELECT BIBLIOGRAPHY)

मूल ग्रन्थ

अथर्ववेद, (सं०) आर० रॉथ और डब्ल्यू० डी० ह्विटने, बर्लिन, १८५६; (सं०) एस० पी० पंडित, बम्बई, १८९५–९८, सायण भाष्य सहित; (अंग्रेजी अनु०) डब्ल्यू० डी० ह्विटने, कैम्ब्रिज १९०५; (अंग्रेजी अनु०) ब्लूमफील्ड सैक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, जिल्द—४२, आक्सफोर्ड १८९७.

अर्थशास्त्र, (सं० एवं अंग्रेजी अनु०) आर० पी० कांगले, भाग १–३, (द्वितीय सं०), बम्बई १९६९;

आदिपुराण, (सं०) पी० एल० जैन, वाराणसी, १९६३

ॠग्वेद, (सं०) वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १९३३;, जिल्द १–४, सायण भाष्य सहित (सं०) लक्ष्मण स्वरूप, जिल्द १–४, मोतीलाल बनारसीदास, १९३९, (अंग्रेजी अनु०) आर० टी० एच० ग्रिफिथ, (पुर्नमुद्रित) दिल्ली, १९७६

कामंदकीय नीतिसार, (सं०) टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९१२

कामसूत्र, (सं०) शामाशास्त्री, मैसूर, ११११९

कूर्मपुराण, बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज, कलकत्ता, १८९०.

कृत्यकल्पतरु, (सं०) के० वी० आर० आयंगर, बड़ौदा, १९४१–५३

जातक, (सं०) वी० फौजबाल, जिल्द—५, लंदन, १९६३ (हि० अनु०) भदन्त आनन्द कौसल्यायन, इलाहाबाद, १९५४.

तैत्तिरीय आरण्यक, (सायण भाष्य सहित) आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, १८९७–९८

तैत्तिरीय ब्राह्मण, (सं०) एच० एन० आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना, १८९८; (अंग्रेजी अनु०) ए० बी० कीथ, हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज, जिल्द—१८, कैम्ब्रिज

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दीघनिकाय, (सं०) टी० डब्लू० रिज डेविड्स तथा जे. ई. कारपेन्टर, (अंग्रेजी अनु०) सैक्रेड बुक्स ऑव द बुद्धिस्ट्स, जिल्द—४, प्राकृत टेक्सट्स सोसाइटी, लंदन, १९७७.

नारद स्मृति, (सं०) जे. जौली, कलकत्ता, १८८५, (अंग्रेजी अनु०) सैक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, जिल्द—३३, आक्सफोर्ड १८८९

नीतिवाक्यामृतम् (सं०) पी. एल. सोनी, बम्बई, १९२१; (चौखम्भा सं०) वाराणसी,

पद्म पुराण, भाग—१, (सं०) पी. एल. जैन, वाराणसी, १९७७

पाराशरस्मृति, (माधव टीका सहित) (सं०) वी. एस. स्लामपुरकर, बम्बई संस्कृत सीरीज, १८९३–१९१९, (अंग्रेजी अनु०) के. भट्टाचार्य, कलकत्ता, १८८७.

द प्रिंसिपल उपनिषद्स, (सं० व अंग्रेजी अनु०) एस. राधाकृष्णन, लंदन, १९५३

ब्रह्मांड पुराण, (वेंकटेश्वर प्रेस सं०) बम्बई, १९१३

बृहस्पति स्मृति (सं०) के. वी. आर. आयंगर, बड़ौदा, १९४१, (अंग्रेजी अनु०) जे० जौली, सैक्रेड बुक्स ऑव ईस्ट, जिल्द – ३३, आक्सफोर्ड, १८८९

भगवद्गीता, (शांकर भाष्य सहित), गीता प्रेस गोरखपुर, १९३३.

भविष्य पुराण, (वेंकटेश्वर प्रेस सं०) बम्बई, १९५०

भागवत पुराण, गीता प्रेस संस्करण, गोरखपुर, १९५३; (अंग्रेजी अनु०) एम० एन० दत्त, कलकत्ता, १८९५

मनुस्मृति, कुल्लूक भट्ट की टीका सहित (सं०) गोपाल शास्त्री नेने (अंग्रेजी अनुवाद) ए. सी. बर्नेल तथा ई. डब्ल्यू. हापकिन्स; लंदन, १८८४ (पुनर्मुद्रित) लुधियाना, १९७२; (अंग्रेजी अनु०) जी. ब्यूहलर, सैक्रेड बुक्स ऑव ईस्ट, जिल्द, २५ आक्सफोर्ड १८८६, (चौखम्भा सं०) (हि० अनु०) हरगोविन्द शास्त्री वाराणसी, १९७०

महाभारत, (बम्बई सं० नीलकंठी टीका सहित) (सं०) आर. किंजवाडेकर, पूना १९२९–३३; (बी. ओ. आर. आई. संस्करण), (सं०), वी. एस. सुकठंकर,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आदि पूना, १६२७-६६, (अंग्रेजी अनु०) एम. एन. दत्त. कलकत्ता १८६५-१६०५; गीता प्रेस संस्करण (हिन्दी अनुवाद सहित) गोरखपुर, १९६८

मार्कण्डेय पुराण (वेंकटेश्वर प्रेस सं०) (अंग्रेजी अनु०) एफ. ई पार्जिटर

याज्ञवल्क्य स्मृति, (सं० व अंग्रेजी अनु०) वी. एन. मांडलिक, बम्बई, १८८०; मिताक्षरा टीका सहित, (सं०) जे. आर. घारपुरे, बम्बई १९१४; (हि० अनु०) उमेश चन्द्र पाण्डेय, वाराणसी, १९७७;

रामायण, (सं०) पी. एल. वैद्य, बड़ौदा, १९६०-१९७१; (अंग्रेजी अनु०) एम. एन. दत्त, कलकत्ता, १८९२-९४; गीता प्रेस संस्करण (हि० अनु० सहित), गोरखपुर, १९६७.

लिंगपुराण (सं०) जे. विद्यासागर, कलकत्ता, १८८५

वैशेषिकचन्द्रानन्दवृत्ति, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, १९६१

वायु पुराण (वेंकटेश्वर प्रेस सं०) बम्बई, १९३३

शतपथ ब्राह्मण (सं०) ए. वेबर, लंदन, १८८५ (सायण भाष्य सहित), (अंग्रेजी अनुवाद) जूलियस इर्गलिग, सैक्रेड बुक्स ऑव ईस्ट, जिल्द—४४, (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, १९७२

शान्तिपर्व (बी. ओ. आर. आई. संस्करण) पूना, १९७४; गीता प्रेस संस्करण (हिन्दी अनुवाद सहित), गोरखपुर

शुक्रनीतिसार, कलकत्ता, १८८२, (अंग्रेजी अनु०) बी. के. सरकार, इलाहाबाद, १९१४.

सहायक ग्रन्थ

अय्यर, पी. एस. एस., द इवोल्यूशन ऑव हिन्दू मॉरल आइडियल्स, (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, १९७६

अल्तेकर, ए. एस., स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शिएन्ट इण्डिया, पुनर्मुद्रित) वाराणसी, १९७७

आर्गन, टी. डब्ल्यू., द हिन्दू क्वेस्ट फॉर द परफेक्शन ऑव मैन, ओहियो १९७०.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आयंगर, के. वी. आर., सम आस्पेक्ट्स ऑव हिन्दू व्यू ऑव लाइफ एकार्डिंग टू धर्मशास्त्र, बड़ौदा, १६५२.

उपाध्याय, के. एन., अर्ली बुद्धिज्म एण्ड भगवद्गीता, दिल्ली, १६७१

एग्युलर, एच., द सैक्रीफाइज इन द ऋग्वेद, वाराणसी, १६६७.

ओ' फ्लेहार्टी, डब्लू. डी., एसेटिसिज्म एण्ड इरोटिसिज्म इन द हिन्दू माइथालोजी ऑव शिव, दिल्ली, १६७५.

—द ओरिजिन ऑव इविल इन हिन्दू माइथालोजी, वाराणसी, १६७६

ओमप्रकाश, पोलिटिकल आइडियाज इन द पुराण, इलाहाबाद, १६७७

कर्वे, इरावती, युगान्त, दिल्ली, १६७४

कवीश्वर, जी. डब्लू., द इथिक्स ऑव द गीता, दिल्ली, १६७१

कर्न, एच , मैनुअल ऑव इन्डियन बुद्धिज्म, दिल्ली, १६७४,

काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द १–५, पूना, १६६२–१६७५

कार, ई. एच., ह्वाट इज हिस्ट्री, लंदन १६६१. (पुनर्मुद्रित), १६६७.

किशन, वी. वी., शोपनहावर्स कंसेप्शन ऑव साल्वेशन, वाल्टेयर, १६७८

कीथ, ए. बी., रिलिजन एण्ड फिलासफी ऑव द वेद एण्ड उपनिषद, हार्वर्ड, १६२५,

क्रील, ए. बी., धर्म इन हिन्दू इथिक्स, कलकत्ता, १६७७

कुप्पुस्वामी, बी., धर्म एण्ड सोसाइटी, मद्रास, १६७७

कूले, सी. एच., सोशल आर्गनाइजेशन, न्यूयार्क, १६ ६

क्रैफर्ड, एस. सी., 'द इवोल्यूशन ऑव हिन्दू इथिकल आइडियाज', कलकत्ता, १६७४

कोसाम्बी, डी. डी., द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑव एन्शिएन्ट इण्डिया इन हिस्टारिकल आउट लाइन्स (हि० अनु०) गुणाकर मूले (द्वि० सं०) नई दिल्ली, १६७७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कोंजे, एडवर्ड, बुद्धिज्म : इट्स एसेन्स एण्ड डेवलपमेन्ट, लन्दन, १९५७.

ग्लुकमैन, मैक्स, पॉलिटिक्स, ला एण्ड रिचुअल्स इन द ट्राइबल सोसाइटी, आक्सफोर्ड, १९७१

गुप्त, एस. एन., इन्डियन कांसेप्ट ऑव वैल्यूज, दिल्ली, १९७८

गोखले, बी. जी., इन्डियन थॉट थ्रू द एजेज, बम्बई, १९६१

घोषाल, यू. एन., ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज, बम्बई, १९२९

चट्टोपाध्याय, के., स्टडीज इन वैदिक एण्ड इण्डो-ईरानियन कल्चर एण्ड लिटरेचर, जिल्द—१, वाराणसी, १९७६

जायसवाल, सुवीरा, ओरिजिन एण्ड इवोल्यूशन ऑव द वैष्णविज्म, (हि० अनु०) दिल्ली, १९७६

जिमर, एच., फिलासफीज ऑव इण्डिया, न्यूयार्क, १९५६,

जैन, आर. सी., द मोस्ट एन्शिएन्ट आर्यन सोसाइटी, दिल्ली, १९६४

जैनी, पद्मनाभ एस., द जैन पाथ ऑव प्योरीफिकेशन, दिल्ली, १९७९.

जोन्स, डब्लू. टी., मास्टर्स ऑव पोलिटिकल थॉट, (पुनर्मुद्रित) लंदन, १९५६

जौहरी मनोरमा, पॉलिटिक्स एण्ड इथिक्स इन एन्शिएन्ट इण्डिया, वाराणसी, १९६८

झा, डी. एन., प्राचीन भारत—एक रूप-रेखा, (हि० अनु०) दिल्ली, १९८०

डेरेट, जे. डी. एम., रिलिजन, ला एण्ड स्टेट इन एन्शिएन्ट इण्डिया, लंदन, १९६८

—तथा ओ'फ्लेहाटी, डब्लू. डी. (सं०) द कांसेप्ट ऑव ड्यूटी इन साउथ एशिया, दिल्ली, १९७८

डि बेरी, विलियम थियोडोर (सं०) सोर्सेज ऑव इण्डियन ट्रेडीशन्स, (पुनर्मुद्रित) दिल्ली, १९७२.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

त्रिपाठी, पी. वी., पुरुषार्थ-चतुष्टय, वाराणसी, १९७०

थापर, रोमिला, एन्शिएन्ट इन्डियन सोशल हिस्ट्री, दिल्ली, १९७६.

दास, भगवान, द साइन्स ऑव सोशल आर्गनाइजेशन, मद्रास, १९१०.

दासगुप्ता, सुरमा, डेवलपमेन्ट ऑव मॉरल फिलासफी इन इण्डिया, बम्बई, १९६१

दासगुप्ता, एस. एन., ए हिस्ट्री ऑव इन्डियन फिलासफी, (पुर्नमुद्रित) दिल्ली, १९७६

—तथा डे, एस. के., ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, जिल्द—१, कलकत्ता, १९४७

देवराज, एन. के., द माइण्ड एण्ड स्पिरिट ऑव इण्डिया, दिल्ली, १९६७

देवहूति (सं०), प्रॉब्लम्स ऑव इण्डियन हिस्टोरियोग्राफी, दिल्ली, १९७९

—(सं०) वायस ऑव इण्डियन हिस्टोरियोग्राफी, दिल्ली, १९८०

नेगी, जे. एस., सम इण्डोलाजिकल स्टडीज, जिल्द—१, इलाहाबाद, १९६६

पनिक्कर, आर., वैदिक एक्सपीरिएन्स— मन्त्रमंजरी, लन्दन, १९७७.

प्रभु, पी. एच., हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन (तृतीय सं०), १९५८

पाटर, के., प्रिजम्पशन्स ऑव इन्डियन फिलासफीज, प्रेन्टिस, १९६३

पाण्डे, जी. सी., मूल्यमीमांसा, जयपुर, १९७३

—स्टडीज इन द ओरिजिन ऑव बुद्धिज्म, इलाहाबाद, १९५७.

—बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, १९६३

पाण्डेय, राजबली, भारतीय नीति का विकास, पटना, १९६५.

फिक, आर., सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ—ईस्टर्न इण्डिया, कलकत्ता, १९२०,

फिनले, एम. आई., द यूज एण्ड एब्यूज ऑव हिस्ट्री, लन्दन, १९७५

ब्लूमफील्ड, एम., द रिलिजन ऑव द वेद, दिल्ली, १९७२

बर्ट्रेन्ड, डि जुवेनेल, सावरिनिटी, शिकागो, १९५७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बर्न्स ई., ह्वाट इज मार्क्सिज्म, (हि० अनु०), ओमप्रकाश संगल, (आठवाँ सं०) दिल्ली, १९८०

ब्राउन, डी. एम., द ह्वाइट अम्ब्रेला : इन्डियन थॉट फ्रॉम मनु टू गाँधी, बर्कले, १९५३

बार्कर, ई., द पॉलिटिक्स ऑव अरिस्टाटिल, आक्सफोर्ड, १९४६

बार्थ, ए., रिलिजन्स ऑव इण्डिया, लन्दन, १८८२

बाशम, ए. एल., वण्डर दैट वाज इण्डिया, (हि० अनु०) बी. सी. पाण्डेय (तृ० सं०), दिल्ली, १९७८

बेलवल्कर, एस. के., (सं०) द शान्तिपर्व—इन्ट्रोडक्शन, पूना, १९६६

बोस, ए. सी., हिम्न्स फ्रॉम द वेद, बम्बई, १९६७;

बोस०, ए. एन., सोशल एण्ड रूरल इकॉनमी ऑव नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, १९६७.

भन्डारकर, डी. आर., सम आस्पेक्ट्स ऑव एन्शिएन्ट हिन्दू पॉलिटी (द्वितीय सं०) वाराणसी, १९६३

भण्डारकर, आर. जी., वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स (पुनर्मुद्रित); कलेक्टेड वर्क्स ऑव आर० जी० भण्डारकर, पूना, १९२८

भट्टाचार्य, एच. (सं०), द कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया, जिल्द—१-५, (पुनर्मुद्रित) कलकत्ता, १९७०

भट्टाचार्य, एस. सी., सम आस्पेक्ट्स ऑव इण्डियन सोसाइटी, कलकत्ता, १९७८

भटनागर, ओ. पी. (सं०), स्टडीज इन सोशल हिस्ट्री, इलाहाबाद, १९४६.

भार्गव, डी. एन., जैन इथिक्स, दिल्ली, १९६८

मजूमदार, ए. के., इकनामिक बैकग्राउण्ड ऑव इपिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९७७

मार्शल, ए., एलीमेन्ट्स ऑव इकनॉमिक्स, जिल्द—१, लदन, १९३२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मिश्र, कामेश्वर नाथ, महाभारत में लोक-कल्याण की राजकीय योजनायें, वाराणसी, १९७२

मीज, जी. एच., धर्म एण्ड सोसाइटी, लन्दन, १९६३

मुकर्जी राधाकमल, द डेस्टिनी ऑव सिविलाइजेशन, बम्बई, १९६४
—सोशल स्ट्रक्चर ऑव वैल्यूज, दिल्ली, १९६५
—इण्डियन स्कीम ऑव लाइफ, बम्बई, १९५१

मुकर्जी, आर. के., हिन्दू सिविलाइजेशन, (हि० अनु०) वासुदेवशरण अग्रवाल, (पंचम सं०) दिल्ली, १९७५.

मूर्ति, के. एस., (सं०) रीडिंग्स इन इन्डियन हिस्ट्री, पॉलिटिक्स एण्ड फिलासफी, लंदन, १९६७

मूर्ति, के. एस., द इण्डियन स्पिरिट, वाल्टेयर, १९६५

मेटरॉक्स, एम. जी. और क्रूजे, फ्रैंकोइस (सं०), स्टडीज इन द कल्चरल हिस्ट्री ऑव इन्डिया, आगरा, १९६५

मैकी, जे. एल., इथिक्स, लंदन, १९७७

मैकेन्जी, जे., हिन्दू इथिक्स, (द्वि० सं०), दिल्ली, १९७१

मैकेन्जी, जे. एस., ए मैनुअल ऑव इथिक्स, दिल्ली, १९६८

मैकडानल, ए. ए., वैदिक माइथोलॉजी, दिल्ली, १९७४

मैक्नीकाल, एन., इण्डियन थेईज्म, लंदन, १९१५

मैक्समूलर, एफ, एन्शिएन्ट संस्कृत लिटरेचर,

मैत्रा, एस. के., द इथिक्स ऑव द हिन्दूज, कलकत्ता, १९६३

मैवेट, आई. डब्लू., ट्रुथ, मिथ एण्ड पॉलिटिक्स इन एन्शिएन्ट इंडिया, दिल्ली, १९७२

मोरगन, के. डब्लू, द रिलिजन ऑव द हिन्दूज, न्यूयार्क १९५३

यादव, बी. एन. एस., सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, इलाहाबाद, १९७३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रॉकहिल, डब्लू. डब्लू., द लाइफ ऑव बुद्ध, लन्दन, १९०७.

राधाकृष्णन्, एस., ईस्टर्न रिलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट, आक्सफोर्ड, १९३९

—द हिन्दू व्यू ऑव लाइफ, लंदन, १९२८

—रिलिजन एण्ड कल्चर, दिल्ली, १९६८

—रिलिजन एण्ड सोसाइटी, लंदन, १९४७.

—रिकवरी ऑव फिलासफी, न्यूयार्क, १९५५

—द स्पिरिट ऑव रिलिजन, दिल्ली, १९७८.

—तथा राजू, पी. टी. (सं०) द कांसेप्ट ऑव मैन, (द्वितीय संस्करण) लन्दन, १९६६.

रानाडे, आर. डी., ए कान्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासफी, पूना, १९३३; (हि० अनु०) जयपुर, १९७१

राय, बी. पी., पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन महाभारत, कलकत्ता, १९७५

राव, एम. वी. के., स्टडीज इन कौटिल्य, (तृ० सं०) दिल्ली, १९७९.

रिज डेविड्स, टी. डब्लू, बुद्धिस्ट इंडिया, लंदन, १९०३.

रेनो, लुई, (सं०) हिन्दूइज्म, न्यूयार्क, १९६१

रेमन्ड, एल., (सं०) रिलिजस हिन्दूइज्म, इलाहाबाद, १९६८

लर्नर, एम., (सं०), मैकियावेली—द प्रिंस एण्ड द डिसकोर्सेस, न्यूयार्क,

लिंगात, आर., क्लासिकल ला ऑव इण्डिया, (अंग्रेजी अनु० जे. डी. एम. डेरेट) लन्दन, १९७३.

लिलि, विलियम, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू इथिक्स, (पुर्नमुद्रित) दिल्ली, १९५५,

विलियम्स, एम., रिलिजस थॉट एण्ड लाइफ इन एन्शिएन्ट इण्डिया (पुर्नमुद्रित) कलकत्ता, १९५८

वोरा, डी. पी., इवोल्यूशन ऑव मॉरल्स इन द इपिक्स, बम्बई, १९६६.

शर्मा, बी., इंथिको-लिटरेरी वैल्यूज ऑव द टू ग्रेट इपिक्स ऑव इन्डिया, दिल्ली, १९७८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शर्मा, आर. एस., शूद्राज इन एन्शिएन्ट इण्डिया (हि० अनु०) विजय नाथ ठाकुर दिल्ली, १९७९.

—आस्पेक्ट्स ऑव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शिएन्ट इण्डिया, (द्वितीय सं०) दिल्ली, १९६८

शाही, योगेन्द्र, अस्तित्ववाद—किर्कगार्द से कामू तक, दिल्ली, १९७५

सेनगुप्त, एन. जी., सोर्सेज ऑव ला एण्ड सोसाइटी इन एन्शिएन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९१४,

सिंह, एम. एम., बुद्धकालीन समाज और धर्म, पटना, १९७२

सिंह, रणजीत, धर्म की हिन्दू अवधारणा, इलाहाबाद, १९७७.

सुकठंकर, वी. एस., आन द मीनिंग ऑव महाभारत, बम्बई, १९५७

सैबाइन, जी. एच., ए हिस्ट्री ऑव पोलिटिकल थ्योरी, न्यूयार्क, १९६१

हाजरा, आर. सी., पौराणिक रिकर्डस आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, दिल्ली, १९७५.

हापकिन्स, ई. डब्लू., इथिक्स ऑव इन्डिया, न्यू हैवेन, १९२४

—एपिक माइथालोजी, न्यूयार्क, १९६९

—द सोशल एण्ड मिलिटरी पोजीशन ऑव द रूलिंग कास्ट्स इन एन्शिएन्ट इंडिया, वाराणसी, १९७२

हिन्डरी, आर, कम्परेटिव इथिक्स इन हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट ट्रेडीशन्स, दिल्ली, १९७८

हिरियन्ना, एम., आउट लाइन्स ऑव इन्डियन फिलासफी, (हि० अनु०), द्वि० सं०) दिल्ली, १९७३

—इण्डियन कंसेप्शन ऑव वैल्यूज, मैसूर, १९७५

हेईमान, बिटी, इण्डियन एण्ड वेस्टर्न फिलासफी : ए स्टडी इन कंट्रास्ट, लन्दन, १९३७

हैडेन, वी. व्हाइट, (सं०) यूजेज ऑव हिस्ट्री, मिशिगन, १९५६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शब्दकोश और निर्देश ग्रन्थ

आप्टे, वी. एस., (सं०) द प्रेक्टिकल संस्कृत—इंगलिश डिक्शनरी, जिल्द—१-३, पूना, १९५७-१९५९

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, जिल्द—१-१८, १५वाँ संस्करण,

हेस्टिग्ज, जे. (सं०), इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड इथिक्स, जिल्द— १-१३, न्यूयार्क, १९०८

मोनियर-विलियम्स (सं०), संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, (पुर्नमुद्रित) दिल्ली, १९७६

रोजेन्थल एम. तथा यूदीं, पी. (सं०), ए डिक्शनरी ऑव फिलासफी,

रून्स, डी. डी. (सं०) ए डिक्शनरी ऑव फिलासफी, लन्दन, १९४१

स्ट्यूटले, जे. और मार्गरेट, (सं०) ए डिक्शनरी ऑव हिन्दूइज्म, बम्बई, १९७७

एवरीमैन इन्साइक्लोपीडिया

सिल्स, डेविड, एल., (सं०), इन्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज, जिल्द—१-१७, मैकमिलन कम्पनी और फ्री प्रेस, १९६८

———

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शोध पत्र-पत्रिकायें

आवर हेरिटेज
इण्डियन कल्चर
इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू
इथिक्स
एनाल्स ऑव भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट
कन्ट्रीब्यूशन टू इण्डियन सोशलॉजी
जर्नल ऑव अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी
जर्नल ऑव आइडियाज
जर्नल ऑव आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी
जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री
जर्नल ऑव इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑव द ओरियण्ट
जर्नल ऑव एन्शिएन्ट इण्डियन हिस्ट्री
जर्नल ऑव ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट
जर्नल ऑव गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्
जर्नल ऑव द बाम्बे ब्रांच ऑव द रायल एशियाटिक सोसाइटी
जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसाइटी
जर्नल ऑव बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
जर्नल ऑव यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी
जर्नल ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव बम्बई
पुराण
प्राची ज्योति
प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्जैक्शन्स ऑव आल इण्डिया ओरियण्टल कांफ्रेन्स
प्रोसीडिंग्स ऑव द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस
फिलासफी : ईस्ट एण्ड वेस्ट
भारतीय विद्या
मानव
विश्वेश्वरानन्द इण्डोलाजिकल जर्नल
हिन्दुत्व
हिस्ट्री ऑव रिलिजन।

———

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विषयानुक्रमणिका

अर्थ,

त्रिवर्ग का एक पुरुषार्थ ४६,

भौतिक जीवन का आधार, ४६, ४७, ५२,

यज्ञ और, ५३

धर्म और, ५२, ५३,

सामाजिक स्थायित्व और, ५४

—शक्ति और राज शक्ति, ७७

—शक्ति और धर्मशक्ति, ७८

अधर्म,

मानव-स्वभाव और, ११, १२

धर्म का विपर्यय, ११, ४८–४९, ५९, ११३,

औचित्य, ५८, ५९, ११४–११५

सामाजिक सन्दर्भ में, ११२.

अभ्युदय,

लौकिक उन्नति के अर्थ में, ४५, ११४,

सामाजिकता, ११०, ११४, १२५

निःश्रेयस् और, ४५, ११४, ११६

ऋत,

सृष्टि व्यवस्था के सन्दर्भ में, ११०,

धर्म और, ११०, १११

धर्माधर्म से परे, ९,

कर्म,

गुण—, २६

धर्म और, ८७

यज्ञ और, ८७

वर्ण निर्धारण का आधार, २५, २६

मोक्षमार्ग में बाधक, ७५

—मार्ग, ८६–८९,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काम,
एक पुरुषार्थ, ४५, ७१
साध्य, ४७,
साधन, ६८
त्रेता,
कृतयुग का परवर्ती युग, ११
अवर्म का प्रारम्भ, ११
दण्ड,
अवधारणा, ५०, ७७
धर्ममयता, ४६, ७७, १०६, ११३
क्षात्रधर्म और, ५१
मात्स्यन्याय और, ३, ४, ५, ४८, ५०, ५८,
व्यवस्था का साधन, ५०, ५४, ५५, ५६, ५८, ५६,
धर्म,
अवधारणा, ११०, १११, ११५
गतिशीलता, ५८, ५६, ११२, ११३, ११४
ऋत और, ११०, १११,
भौतिक और पारमार्थिक का समन्वय, ७१, ७२, १०७, १०८, ११६
व्यक्ति-समाज का सामञ्जस्य-रूप, ७२, १०८, १०६, १११, ११४,
दण्ड और, ७७, ११३
लोकव्यवस्था और, ११२
युद्ध और, ४६,
निःश्रेयस्.
पारलौकिक उपलब्धि, ११४
वैयक्तिक उपलब्धि, ११४
अभ्युदय और, ४५, ७२, ११४, ११६
प्राकृतयुग,
अवधारणा, १
स्वर्णयुग के रूप में, ५–७, ११
मात्स्यन्याययुग के रूप में, ३–५, ११
प्राक्-सामाजिक अवधारणा, ८, ११, १२
नैतिक पूर्णता का युग, ६, १०
वैयक्तिक आत्मनिर्भरता का युग, ८, ६, १०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ब्रह्म,

विश्व का मूल स्रोत, ७३
आत्मन और, ७३
सप्रपञ्च, ७३,
निष्प्रपञ्च, ७३
नेति-नेति, ७३

भक्ति,

प्राचीनता, ६०,
—मार्ग, ८६, ६०, ६१
—सिद्धान्त, ८६, ६०,

मानव-स्वभाव,

मौलिक स्वरूप, ६, २०, ५८, ७७, १०४
पतन, ११, १२
भौतिक विवशतायें और, ११, ७७, १०५
मानव-सभ्यता और, १०५
नैतिक पूर्णता और, ६, १०, ११, ७७
वर्णव्यवस्था और, २६
उपलब्धिबोध और, ७७, ७८, ८०
व्यक्ति-समाज सम्बन्ध और, १०६, १०७, १०८

मोक्ष,

परम पुरुषार्थ, ४५, ७१
अवधारणा, ७२, ७३, ७४, ६०, ६१
पारलौकिक उपलब्धि, ७५.
इहलौकिक उपलब्धि, ७५, ७६, ८१
साधन, ७७-६१
वैयक्तिकता, ५४, ७४, ७६, ८६
सामाजिक उपादेयता, ८०, ८१
क्षात्रधर्म और, ६०, ६१
त्रिवर्ग और, ७२, ७७, ७८, ८०
निर्वाण और, ७४, ६४, ६५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यज्ञ,
सृष्टि का मूल, २२
मंत्र और, २२
पाप-निवारक, ५३
'अर्थ' और, ५३
'अन्तर्यज्ञ' और 'मनोयज्ञ', ८४
'कर्म' और, ८७

वर्णव्यवस्था,
उत्पत्ति, २१, २२, २३
गुण-कर्म और, २५, २६, २७, २६
सावयविक सिद्धान्त, २३, २४
आधार में परिवर्तन, २४; २५, २६,
सांस्कृतिकता, ३१, ३२
सामाजिक व्यवस्था और, २४, २७, ३१, ३२
सामाजिक विभेद और, २६, ३०, ३३
इतरवैदिक धर्म और, २५

वार्ता,
उत्पत्ति, ११, २१
वर्णव्यवस्था और, ११
सामाजिक व्यवस्था और, २१

क्षात्रधर्म,
अवधारणा, ४६,
धर्म और, ५३, ५७, ५८, ११२
लोक व्यवस्था और, ५०, ५१, ५४, ५५, ११४
मोक्ष और, ५६, ६०, ६१
राजधर्म और, ५६

———

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

State Museum Library
7148
Lucknow

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी० एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)